(सह) युष्माभिः परस्परस्य सुखोपकारार्थैव सर्वं सामर्थ्यं योजनीयम् । (एषां०) ये ह्येषां सर्वजीवानां सङ्गे स्वात्मवद्वर्त्तन्ते तादृशानां परोपकारिणां परसुखदातॄणामुपर्य्यहं कृपालुर्भूत्वा (अभिमन्त्रये वः) युष्मान्पूर्वपरोक्तं धर्ममाज्ञापयामि । इत्थमेव सर्वैः कर्त्तव्यमिति । येन युष्माकं मध्ये नैव कदाचित्सत्यनाशोऽसत्यवृद्धिश्च भवेत् । (समानेन वो०) हविर्दानं ग्रहणं च, तदपि सत्येन धर्मेण युक्तमेव कार्य्यम् । तेन समानेनैव हविषा वो युष्मान् जुहोमि, सत्यधर्मेण सहैवाहं सदा नियोजयामि । अतो मदुक्त एव धर्मो मन्तव्यो नान्य इति ॥ २ ॥

भाषार्थ

(समानो मन्त्रः) हे मनुष्य लोगो ! जो तुम्हारा मन्त्र अर्थात् सत्य असत्य का विचार है वह समान हो । उस में किसी प्रकार का विरोध न हो । और जब २ तुम लोग मिल के विचार करो, तब २ सब के वचनों को अलग २ सुन के, जो २ धर्मयुक्त और जिसमें सब का हित हो सो २ सब में से अलग करके, उसी का प्रचार करो । जिससे सभों का बराबर सुख बढ़ता जाय । (समितिः समानी) और जिस में सब मनुष्यों का मान, ज्ञान, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्य आदि आश्रम, अच्छे २ काम, उत्तम मनुष्यों की सभा से राज्य के प्रबन्ध का यथावत् करना और जिससे बुद्धि, शरीर, बल, पराक्रम आदि गुण बढ़ें तथा परमार्थ और व्यवहार शुद्ध हों ऐसी जो उत्तम मर्य्यादा है सो भी तुम लोगों की एक ही प्रकार की हो । जिससे तुम्हारे सब श्रेष्ठ काम सिद्ध होते जायं । (समानं मनः सह चित्तं) हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा मन भी आपस में विरोधरहित, अर्थात् सब प्राणियों के दुःख के नाश और सुख की वृद्धि के लिये अपने आत्मा के समतुल्य पुरुषार्थवाला हो । शुभ गुणों की प्राप्ति की इच्छा को संकल्प और दुष्ट गुणों के त्याग की इच्छा को विकल्प कहते हैं । जिससे जीवात्मा ये दोनों कर्म करता है उसका नाम मन है । उससे सदा पुरुषार्थ करो । जिससे तुम्हारा धर्म सदा दृढ़ और अविरुद्ध हो । तथा चित्त उसको कहते हैं कि जिससे सब अर्थों का स्मरण अर्थात् पूर्वापर कर्मों का यथावत् विचार हो । वह भी तुम्हारा एक सा हो । (सह) जो तुम्हारा मन और चित्त हैं, ये दोनों सब मनुष्यों के सुख ही के लिये प्रयत्न में रहें । (एषां०) इस प्रकार से जो मनुष्य सब का उपकार करने और सुख देनेवाले हैं, मैं उन्हीं पर सदा कृपा करता हूं । (समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः) अर्थात् मैं उन के लिये आशीर्वाद और आज्ञा देता हूं कि सब मनुष्य मेरी इस

आज्ञा के अनुकूल चलें। जिस से उन का सत्य धर्म बढ़े और असत्य का नाश हो। (समानेन वो हविषा जुहोमि) हे मनुष्य लोगो ! जब २ कोई पदार्थ किसी को दिया चाहो, अथवा किसी से ग्रहण किया चाहो, तब २ धर्म से युक्त ही करो। उस से विरुद्ध व्यवहार को मत करो। और यह बात निश्चय करके जान लो कि मैं सत्य के साथ तुम्हारा और तुम्हारे साथ सत्य का संयोग करता हूं। इसलिये कि तुम लोग इसी को धर्म मान के सदा करते रहो और इस से भिन्न को धर्म कभी मत मानो ॥ २ ॥

समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ऋ० अ० ८। अ० ८। व० ४६। मं० ४ ॥

भाष्यम्

अस्यायमभिप्रायः। हे मानवाः ! वो युष्माकं यत्सर्वं सामर्थ्यमस्ति तद्धर्मसंबन्धे परस्परमविरुद्धं कृत्वा सर्वैः सुखं सदा संवर्धनीयमिति, (समानी व०) आकूतिरध्यवसाय उत्साह आप्तरीतिर्वा सापि वो युष्माकं परस्परोपकारकरणेन सर्वेषां जनानां सुखायैव भवतु, यथा मदुपदिष्टस्यास्य धर्मस्य विलोपो न स्यात्तथैव कार्य्यम्, (समाना हृदयानि वः) वो युष्माकं हृदयान्यर्थान्मानसानि प्रेमप्रचुराणि कर्माणि निर्वैराय समानान्यविरुद्धान्येव सन्तु, (समानमस्तु वो मनः) अत्र प्रमाणम्, कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति ॥ श० कां० १४। अ० ४ ॥ मनसा विविच्य पुनरनुष्ठातव्यम्। शुभगुणानामिच्छा कामः। तत्प्राप्त्यनुष्ठानेच्छा संकल्पः। पूर्वं संशयं कृत्वा पुनर्निश्चयकरणेच्छा संशयो विचिकित्सा। ईश्वरसत्यधर्मादिगुणानामुपर्य्यत्यन्तं विश्वासः श्रद्धा। अनीश्वरवादाधर्माद्युपरि सर्वथा ह्यनिश्चयोऽश्रद्धा। सुखदुःखप्राप्त्यापीश्वरधर्माद्युपरि सदैव निश्चयरक्षणं धृतिः। अशुभगुणानामाचरणं नैव कार्य्यमित्यधैर्य्यमधृतिः। सत्यधर्मानाचरणेऽसत्याचरणे मनसः संकोचो घृणा ह्रीः। शुभगुणान् शीघ्रं धारयेदिति धारणावती वृत्तिर्धीः। असत्याचरणादीश्वराज्ञाभंगात्पापाचरणादीश्वरो नः सर्वत्र पश्यतीत्यादि वृत्तिर्भीः। एतद्धर्मकं मनो वो युष्माकं समानं तुल्यमस्तु। (यथा वः सुसहासति) हे मनुष्या वो युष्माकं यथा परस्परं सुसहायेन स्वसाति सम्यक् सुखोन्नतिः स्यात्तथा सर्वैः प्रयत्नो विधेयः। सर्वान् सुखिनो दृष्ट्वा चित्त आल्हादः कार्य्यः।

नैव कंचिदपि दुःखितं दृष्ट्वा सुखं केनापि कर्त्तव्यम् । किन्तु यथा सर्वे स्वतन्त्राः सुखिनः स्युस्तथैव सर्वैः कार्य्यमिति ।

भाषार्थ

(समानी व आकूतिः) ईश्वर इस मन्त्र का प्रयोजन कहता है कि हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा जितना सामर्थ्य है उस को धर्म के साथ मिला के सब सुखों को सब दिन बढ़ाते रहो । निश्चय, उत्साह और धर्मात्माओं के आचरण को आकूति कहते हैं । हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा सब पुरुषार्थ सब जीवों के सुख के लिये सदा हो । जिससे मेरे कहे धर्म का कभी त्याग न हो । और सदा वैसा ही प्रयत्न करते रहो कि जिससे (समाना हृदयानि वः) तुम्हारे हृदय अर्थात् मन के सब व्यवहार आपस में सदा प्रेमसहित और विरोध से अलग रहें । (समानमस्तु वो मनः) मनः शब्द का अनेक वार ग्रहण करने में यह प्रयोजन है कि जिससे मन के अनेक अर्थ जाने जायँ । (कामः) प्रथम विचार ही करके सब उत्तम व्यवहारों का आचरण करना और बुरों को छोड़ देना इस का नाम काम है । (संकल्पः) जो सुख और विद्यादि शुभ गुणों को प्राप्त होने के लिये प्रयत्न से अत्यन्त पुरुषार्थ करने की इच्छा है उस को संकल्प कहते हैं । (विचिकित्सा) जो २ काम करना हो उस २ को प्रथम शङ्का कर कर के ठीक निश्चय करने के लिये जो संदेह करना है उसका नाम विचिकित्सा है । (श्रद्धा) जो ईश्वर और सत्य धर्म आदि शुभ गुणों में निश्चय से विश्वास को स्थिर रखना है उस को श्रद्धा जानना । (अश्रद्धा) अर्थात् अविद्या, कुतर्क, बुरे काम करने, ईश्वर को नहीं मानने और अन्याय आदि अशुभ गुणों से सब प्रकार से अलग रहने का नाम अश्रद्धा समझना चाहिये । (धृतिः) जो सुख, दुःख, हानि, लाभ आदि के होने में भी अपने धीरज को नहीं छोड़ना उस का नाम धृति है । (अधृति) बुरे कामों में दृढ़ न होने को अधृति कहते हैं । (ह्रीः) अर्थात् जो झूठे आचरण करने और सच्चे कामों को नहीं करने में मन को लज्जित करना है उस को ह्री कहते हैं । (धीः) जो श्रेष्ठ गुणों को शीघ्र धारण करनेवाली वृत्ति है उस को धी कहते हैं । (भीः) जो ईश्वर की आज्ञा अर्थात् सत्याचरण धर्म करना और उस से उलटे पाप के आचारण से नित्य डरते रहना, अर्थात् ईश्वर हमारे सब कामों को सब प्रकार से देखता है ऐसा जानकर उससे सदा डरना, कि जो मैं पाप करूंगा तो ईश्वर मुझ पर अप्रसन्न होगा इत्यादि गुण वाली वस्तु का नाम मन

है। इस को सब प्रकार से सब के सुख के लिये युक्त करो। (यथा वः सुसहासति) हे मनुष्य लोगो ! जिस प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त धर्म सेवन से तुम लोगों को उत्तम सुखों की बढ़ती हो और जिस श्रेष्ठ सहाय से आपस में एक से दूसरे को सुख बढ़े ऐसा काम सब दिन करते रहो। किसी को दुःखी देख के अपने मन में सुख मत मानो। किन्तु सब को सुखी करके अपने आत्मा को सुखी जानो। जिस प्रकार से स्वाधीन होके सब लोग सदा सुखी रहें वैसा ही यत्न करते रहो ॥ ३ ॥

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धाᳬ सत्ये प्रजापतिः ॥ ४ ॥ य० अ० १९। मं० ७७ ॥

भाष्यम्

अस्यायम० (दृष्ट्वा०) प्रजापतिः परमेश्वरो धर्ममुपदिशति सर्वैर्मनुष्यैः सर्वथा सर्वदा सत्य एव सम्यक् श्रद्धा रक्षणीयाऽसत्ये चाश्रद्धेति। (प्रजापतिः) परमेश्वरः (सत्यानृते) धर्माधर्मौ (रूपे) प्रसिद्धाप्रसिद्धलक्षणौ दृष्ट्वा (व्याकरोत्) सर्वज्ञया स्वया विद्यया विभक्तौ कृतवानस्ति। कथमित्यत्राह (अश्रद्धाम०) सर्वेषां मनुष्याणामनृतेऽसत्येऽधर्मेऽन्यायेऽश्रद्धामदधात्। अर्थादधर्मेऽश्रद्धां कर्तुमाज्ञापयति। तथैव वेदशास्त्रप्रतिपादिते, सत्ये, प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षिते, पक्षपातरहिते, न्याय्ये धर्मे प्रजापतिः सर्वज्ञ ईश्वरः श्रद्धां चादधात्। एवं सर्वैर्मनुष्यैः परमप्रयत्नेन स्वकीयं चित्तं धर्मे प्रवृत्तमधर्मान्निवृत्तं च सदैव कार्य्यमिति ॥ ४ ॥

भाषार्थ

(दृष्ट्वा०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि प्रजापति परमेश्वर जो सब जगत् का स्वामी अर्थात् मालिक है वह सब मनुष्यों के लिये धर्म का उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को सब प्रकार से सब काल में सत्य में ही प्रीति करनी चाहिये, असत्य में कभी नहीं। (प्रजापतिः) सब जगत् का अध्यक्ष जो ईश्वर है सो (सत्यानृते) सत्य जो धर्म और असत्य जो अधर्म हैं, जिन के प्रकट और गुप्त लक्षण हैं, * (व्याकरोत्) उन को ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञ विद्या के ठीक २ विचार से देख के सत्य और झूठ को अलग २ किया है। सो इस प्रकार से है कि (अश्रद्धाम०) हे मनुष्य लोगो ! तुम सब दिन अनृत अर्थात् झूठ अन्याय के करने में (अश्रद्धा)

* जितना धर्म अधर्म का लक्षण बाहर की चेष्टा के साथ सम्बन्ध रखता है वह प्रकट और जितना आत्मा के साथ सम्बन्ध रखता है वह गुप्त कहाता है।

अर्थात् प्रीति कभी मत करो। वैसा ही (श्रद्धांसं०) सत्य अर्थात् जो वेदशास्त्रोक्त और जिसकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परीक्षा की गई हो वा की जाय वही पक्षपात से अलग न्यायरूप धर्म है। उस के आचरण में सब दिन प्रीति रक्खो, और जो २ तुम लोगों के लिये मेरी आज्ञा है उस २ में अपने आत्मा, प्राण और मन को सब पुरुषार्थ तथा कोमल स्वभाव से युक्त करके सदा सत्य ही में प्रवृत्त करो ॥ ४ ॥

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ ५ ॥ य० अ० ३६। मं० १८ ॥

भाष्यम्

(दृते दृंह०) अस्यायम० सर्वे मनुष्याः सर्वथा सर्वदा सर्वैः सह सौहार्द्देनैव वर्तेरन्निति। सर्वैरीश्वरोक्तोयं धर्मः स्वीकार्य्य, ईश्वरः प्रार्थनीयश्च, यतो धर्मनिष्ठा स्यात्। तद्यथा। हे दृते ! सर्वदुःखविनाशकेश्वर ! मदुपरि कृपां विधेहि, यतोऽहं सत्यधर्मं यथावद्विजानीयाम्, पक्षपातरहितस्य सुहृदश्चक्षुषा प्रेमभावेन सर्वाणि भूतानि (मा) मां सदा समीक्षन्तामर्थान्मम मित्राणि भवन्तु। इतीच्छाविशिष्टं मां (दृंह) दृंह, सत्यसुखैः शुभगुणैश्च सह सदा वर्धय, (मित्रस्याहं०) एवमहमपि मित्रस्य चक्षुषा स्वात्मवत्प्रेमबुद्ध्या (सर्वाणि भूतानि समीक्षे) सम्यक् पश्यामि, (मित्रस्य च०) इत्थमेव मित्रस्य चक्षुषा निर्वैरा भूत्वा वयमन्योन्यं समीक्षामहे, सुखसंपादनार्थं सदा वर्त्तामहे। इतीश्वरोपदिष्टो धर्मो हि सर्वैर्मनुष्यैरेक एव मन्तव्यः ॥ ५ ॥

भाषार्थ

(दृते दृंह०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग आपस में सब प्रकार के प्रेमभाव से सब दिन वर्त्तें, और सब मनुष्यों को उचित है कि जो वेदों में ईश्वरोक्त धर्म है उसी को ग्रहण करें, और वेदरीति से ही ईश्वर की उपासना करें, कि जिससे मनुष्यों की धर्म में ही प्रवृत्ति हो। (दृते०) हे सब दुःखों के नाश करने वाले परमेश्वर ! आप हम पर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग आपस में वैर को छोड़ के एक दूसरे के साथ प्रेमभाव से वर्त्तें। (मित्रस्य मा०) और सब प्राणी मुझ को अपना मित्र जान के बन्धु के समान वर्त्तें। ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को (दृंह०) सत्य सुख और शुभ गुणों से सदा बढ़ाइये। (मित्रस्याहं०) इसी प्रकार से मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों को अपने मित्र जानूं और

हानि, लाभ, सुख और दुःख में अपने आत्मा के समतुल्य ही सब जीवों को मानूं। (मित्रस्य च०) हम सब लोग आपस में मिलके सदा मित्रभाव रक्खें और सत्यधर्म के आचरण से सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें। जो ईश्वर का कहा धर्म है यही एक सब मनुष्यों को मानने के योग्य है ॥ ५ ॥

अग्ने॑ व्रतपते व्र॒तं च॑रिष्यामि॒ तच्छ॑केयं॒ तन्मे॑ राध्यताम्। इ॒दम॒हमनृ॑तात्स॒त्यमुपै॑मि ॥ ६ ॥ यजु० अ० १। मं० ५ ॥

भाष्यम्

(अग्ने व्र०) अस्याभिप्रा० सर्वैर्मनुष्यैरीश्वरस्य सहायेच्छा सदा कार्येति। नैव तस्य सहायेन विना सत्यधर्मज्ञानं, तस्यानुष्ठानपूर्त्तिश्च भवतः। हे अग्ने व्रतपते! सत्यपते (व्रतं) सत्यधर्मं चरिष्याम्यनुष्ठास्यामि। अत्र प्रमाणम् ॥ सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् ॥ श० कां० १। अ० १ ॥ सत्याचरणाद्देवा असत्याचरणान्मनुष्याश्च भवन्ति। अतः सत्याचरणमेव धर्ममाहुरिति। (तच्छकेयम्) यथा तत्सत्याचरणं धर्मं कर्त्तुमहं शकेयं समर्थो भवेयम्, (तन्मे राध्यताम्) तत्सत्यधर्मानुष्ठानं मे मम भवता राध्यतां कृपया सम्यक् सिद्धं क्रियताम्। किंच तद्व्रतमित्यत्राह? (इदमहमनृतात्सत्यमुपै०) यत्सत्यधर्मस्यैवाचरणमनृतादसत्याचरणादधर्मात्पृथग्भूतं तदेवोपैमि प्राप्नोमीति। अस्यैव धर्मस्यानुष्ठानमीश्वरप्रार्थनया स्वपुरुषार्थेन च कर्त्तव्यम्। नापुरुषार्थिनं मनुष्यमीश्वरोनुगृह्णाति। यथा चक्षुष्मन्तं दर्शयति नान्धं च। एवमेव धर्मं कर्त्तुमिच्छन्तं पुरुषार्थकारिणमीश्वरानुग्रहाभिलाषिणं प्रत्येवेश्वरः कृपालुर्भवति नान्यं प्रति चेति। कुतः। जीवे तत्सिद्धिं कर्त्तुं साधनानामीश्वरेण पूर्वमेव रचितत्वात्, तदुपयोगाकरणाच्च। येन पदार्थेन यावानुपकारो ग्रहीतुं शक्यस्तावान्स्वेनैव ग्रहीतव्यस्तदुपरीश्वरानुग्रहेच्छा कार्य्येति ॥ ६ ॥

भाषार्थ

(अग्ने व्र०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब मनुष्य लोग ईश्वर के सहाय की इच्छा करें, क्योंकि उस के सहाय के विना धर्म का पूर्ण ज्ञान और उस का अनुष्ठान पूरा कभी नहीं हो सकता। हे सत्यपते परमेश्वर! (व्रतं०) मैं जिस सत्यधर्म का अनुष्ठान किया चाहता हूं उस की सिद्धि आप की कृपा से ही हो सकती है। इसी मन्त्र का अर्थ शतपथब्राह्मण में भी लिखा है कि जो मनुष्य सत्य के आच-

रणरूप व्रत को करते हैं वे देव कहाते हैं, और जो असत्य का आचरण करते हैं उन को मनुष्य कहते हैं। इस से मैं उस सत्यव्रत का आचरण किया चाहता हूं। (तच्छकेयं) मुझ पर आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे मैं सत्यधर्म का अनुष्ठान पूरा कर सकूं। (तन्मे राध्यतां) उस अनुष्ठान की सिद्धि करने वाले एक आप ही हो। सो कृपा से सत्यरूप धर्म के अनुष्ठान को सदा के लिये सिद्ध कीजिये। (इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि) सो यह व्रत है कि जिसको मैं निश्चय से चाहता हूं। उन सब असत्य कामों से छूट के सत्य के आचरण करने में सदा दृढ़ रहूं। परन्तु मनुष्य को यह करना उचित है कि ईश्वर ने मनुष्यों में जितना सामर्थ्य रक्खा है उतना पुरुषार्थ अवश्य करें। उसके उपरान्त ईश्वर के सहाय की इच्छा करनी चाहिये। क्योंकि मनुष्यों में सामर्थ्य रखने का ईश्वर का यही प्रयोजन है कि मनुष्यों को अपने पुरुषार्थ से ही सत्य का आचरण अवश्य करना चाहिये। जैसे कोई मनुष्य आंख वाले पुरुष को ही किसी चीज़ को दिखला सकता है, अन्धे को नहीं। इसी रीति से जो मनुष्य सत्यभाव, पुरुषार्थ से धर्म को किया चाहता है उस पर ईश्वर भी कृपा करता है, अन्य पर नहीं। क्योंकि ईश्वर ने धर्म करने के लिये बुद्धि आदि बढ़ने के साधन जीव के साथ रक्खे हैं। जब जीव उनसे पूर्ण पुरुषार्थ करता है तब परमेश्वर भी अपने सब सामर्थ्य से उस पर कृपा करता है, अन्य पर नहीं। क्योंकि सब जीव कर्म करने में स्वाधीन और पापों के फल भोगने में कुछ पराधीन भी हैं॥ ६॥

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्। दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥ ७॥ यजु० अ० १९। मं० ३०॥

भाष्यम्

(व्रतेन दी०) अस्या० यदा मनुष्यो धर्मं जिज्ञासते, सत्यं चिकीर्षति, तदैव सत्यं विजानाति, तत्रैव मनुष्यैः श्रद्धेयम्। नासत्ये चेति। यो मनुष्यः सत्यं व्रतमाचरति। तदा दीक्षामुत्तमाधिकारं प्राप्नोति। (दीक्षयाप्नोति द०) यदा दीक्षितः सन्नुत्तमगुणैरुत्तमाधिकारी भवति तदा सर्वतः सत्कृतः फलवान् भवति, सास्य दक्षिणा भवति। तां दीक्षया शुभगुणाचरणेनैवाप्नोति। (दक्षिणा श्र०) सा दक्षिणा यदा ब्रह्मचर्य्यादिसत्यव्रतैः सत्काराढ्या स्वस्यान्येषां च भवति तदाचरणे श्रद्धां दृढं विश्वासमुत्पादयति। कुतः। सत्याचरणमेव सत्कारकारकमस्त्यतः। (श्रद्धया०) यदोत्तरोत्तरं श्रद्धा वर्धेत तदा तया श्रद्धया मनुष्यैः परमेश्वरो मोक्ष-

धर्मादिकं चाप्यते प्राप्यते नान्यथेति । अतः किमागतं सत्यप्राप्त्यर्थं सर्वदा श्रद्धोत्साहादिपुरुषार्थो वर्धयितव्यः ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(व्रतेन दी०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य धर्म को जानने की इच्छा करता है तभी सत्य को जानता है । उसी सत्य में मनुष्यों को श्रद्धा करनी चाहिये । असत्य में कभी नहीं । (व्रतेन०) जो मनुष्य सत्य के आचरण को दृढ़ता से करता है तब वह दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार के फल को प्राप्त होता है । (दीक्षयाप्नोति०) जब मनुष्य उत्तम गुणों से युक्त होता है तब सब लोग सब प्रकार से उसका सत्कार करते हैं । क्योंकि धर्म आदि शुभगुणों से ही उस दक्षिणा को मनुष्य प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं । (दक्षिणा श्र०) जब ब्रह्मचर्य आदि सत्य व्रतों से अपना और दूसरे मनुष्यों का अत्यन्त सत्कार होता है तब उसी में दृढ़ विश्वास होता है । क्योंकि सत्य धर्म का आचरण ही मनुष्यों का सत्कार कराने वाला है । (श्रद्धया०) फिर सत्य के आचरण में जितनी २ अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है उतना २ ही मनुष्य लोग व्यवहार और परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते हैं, अधर्माचरण से नहीं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि सत्य की प्राप्ति के लिये सब दिन श्रद्धा और उत्साह आदि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जायं, जिससे सत्य धर्म की यथावत् प्राप्ति हो ॥८॥

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तऋते श्रिता ॥ ९ ॥ सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृताः ॥१०॥ अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । मं० १ । २ ॥

भाष्यम्

(श्रमेण तपसा०) अभिप्रा० श्रमेणेत्यादिमन्त्रेषु धर्मस्य लक्षणानि प्रकाश्यन्त इति । श्रमः प्रयत्नः पुरुषार्थ उद्यम इत्यादि । तपो धर्मानुष्ठानम् । तेन श्रमेणैव तपसा च सहेश्वरेण सर्वे मनुष्याः सृष्टा रचिताः । अतः (ब्रह्मणा) वेदेन परमेश्वरज्ञानेन च युक्ताः सन्तो ज्ञानिनः स्युः, (ऋते श्रिता०) ऋते ब्रह्मणि पुरुषार्थे चाश्रिता, ऋतं सेवमानाश्च सदैव भवन्तु ॥ ९ ॥ (सत्येनावृ०) वेदशास्त्रेण प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैश्च परीक्षितेनाव्यभिचारिणा सत्येनावृता युक्ताः सर्वे मनुष्याः सन्तु । (श्रिया प्रावृ०) श्रिया शुभगुणाचरणोज्ज्वलया चक्रवर्त्तिराज्यसेवमानया प्रकृष्टया लक्ष्म्याऽऽवृता युक्ताः परमप्रयत्नेन भवन्तु । (यशसा०) उत्कृष्ट-

गुणग्रहणं, सत्याचरणं यशस्तेन परितः सर्वतोऽवृता युक्ताः सन्तः प्रकाशयितारश्च स्युः ॥ १० ॥

भाषार्थ

(श्रमेण तपसा०) इन मन्त्रों के अभिप्राय से यह सिद्ध होता है कि सब मनुष्यों को (श्रमेण०) इत्यादि धर्म के लक्षणों का ग्रहण अवश्य करना चाहिये। क्योंकि ईश्वर ने (श्रम०) जो परम प्रयत्न का करना, और (तपः) जो धर्म का आचरण करना है इसी धर्म से युक्त मनुष्यों को रचा है। इस कारण से (ब्रह्मणा) ब्रह्म जो वेदविद्या और परमेश्वर के ज्ञान से युक्त होके सब मनुष्य अपने २ ज्ञान को बढ़ावें। (ऋतेश्रिता) सब मनुष्य ऋत जो ब्रह्म, सत्य विद्या, और धर्माचरण इत्यादि शुभगुणों का सेवन करें ॥ ९ ॥ (सत्येनावृता) सब मनुष्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्य की परीक्षा करके सत्य के आचरण से युक्त हों। (श्रिया प्रावृता) हे मनुष्य लोगो ! तुम शुभगुणों से प्रकाशित होके, चक्रवर्त्तिराज्य आदि ऐश्वर्य को सिद्ध करके, अतिश्रेष्ठ लक्ष्मी से युक्त हो के, शोभारूप श्री को सिद्ध करके, उस को चारों ओर पहिन के शोभित हो। (यशसा परी०) सब मनुष्यों को उत्तम गुणों का ग्रहण करके सत्य के आचरण और यश अर्थात् उत्तम कीर्ति से युक्त होना चाहिये ॥ १० ॥

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥ ११ ॥ ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥ १२ ॥ अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । मं० ३ । ७ ॥

भाष्यम्

(स्वधया परि०) परितः सर्वतः स्वकीयपदार्थशुभगुणधारणेनैव सन्तुष्य सर्वे मनुष्याः सर्वेभ्यो हितकारिणः स्युः, (श्रद्धया प०) सत्यमेव विश्वासमूलमस्ति नासदिति तया सत्योपरिदृढविश्वासरूपया श्रद्धया परितः सर्वत ऊढाः प्राप्तवन्तः सन्तु, (दीक्षया गुप्ताः) सद्भिराप्तैर्विद्वद्भिः कृतसत्योपदेशया दीक्षया गुप्ता रक्षिताः, सर्वमनुष्याणां रक्षितारश्च स्युः, (यज्ञे प्रतिष्ठिताः) (यज्ञो वै विष्णुः) व्यापके परमेश्वरे सर्वोपकारकेऽश्वमेधादौ शिल्पविद्याक्रियाकुशलत्वे च प्रतिष्ठिताः प्राप्तप्रतिष्ठाश्च भवन्तु, (लोको निधनम्) अयं लोकः सर्वेषां मनुष्याणां निधनं यावन्मृत्युर्न भवेत्तावत्सर्वोपकारकं सत्कर्मानुष्ठानं कर्तुं योग्यमस्तीति सर्वैर्मन्तव्यमितीश्वरोपदेशः ॥ ११ ॥ अन्यच्च । (ओजश्च) न्यायपालनान्वितः पराक्र-

मः, (तेजश्च) प्रगल्भता, धृष्टता, निर्भयता, निर्दीनता, सत्ये व्यवहारे कर्त्तव्या, (सहश्च) सुखदुःखहानिलाभादिक्लेशप्रदवर्त्तमानप्राप्तावपि हर्षशोकाकरणं, तन्नि-वारणार्थं परमप्रयत्नानुष्ठानं च सहनं सर्वैः सदा कर्त्तव्यम्, (बलं च) ब्रह्मचर्य्या-दिसुनियमाचरणेन शरीरबुद्ध्यादिरोगनिराकरणं, दृढाङ्गतानिश्चलबुद्धित्वसम्पादनं, भीषणादिकर्मयुक्तं बलं च कार्य्यमिति, (वाक् च) विद्याशिक्षासत्यमधुरभाषणा-दिशुभगुणयुक्ता वाणी कार्य्येति, (इन्द्रियं च) मनआदीनि वाग्भिन्नानि षड्-ज्ञानेन्द्रियाणि, वाक् चेति कर्मेन्द्रियाणामुपलक्षणेन कर्मेन्द्रियाणि च, सत्यधर्मा-चरणयुक्तानि पापाद्व्यतिरिक्तानि च सदैव रक्षणीयानि, (श्रीश्च) सम्राड्राज्य-श्रीः परमपुरुषार्थेन कार्य्येति, (धर्मश्च) अयमेव वेदोक्तो, न्याय्यः, पक्षपातरहितः, सत्याचरणयुक्तः, सर्वोपकारश्च धर्मः सदैव सर्वैः सेवनीयः । अस्यैवेयं पूर्वा परा सर्वा व्याख्यास्तीति बोध्यम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ

(स्वधया परिहिता) सब प्रकार से मनुष्य लोग स्वधा अर्थात् अपने ही पदार्थों का धारण करें । इस अमृतरूप व्यवहार से सदा युक्त हों । (श्रद्धया-पर्य्यूढा) सब मनुष्य सत्य व्यवहार पर अत्यन्त विश्वास को प्राप्त हों । क्योंकि जो सत्य है वही विश्वास का मूल तथा सत्य का आचरण ही उसका फल और स्वरूप है, असत्य कभी नहीं । (दीक्षया गुप्ता) विद्वानों की सत्य शिक्षा से रक्षा को प्राप्त हो और मनुष्य आदि प्राणियों की रक्षा में परमपुरुषार्थ करो । (यज्ञे प्रतिष्ठिता) यज्ञ जो सब में व्यापक अर्थात् परमेश्वर अथवा सब संसार का उपकार करने वाला अश्वमेधादि यज्ञ अथवा जो शिल्पविद्या सिद्ध करके उपकार लेना जो यज्ञ है, इस तीन प्रकार के यज्ञ में सब मनुष्य यथावत् प्रवृत्ति करें । (लोको नि०) जब तक तुम लोग जीते रहो तब तक सदा सत्य कर्म में ही पुरुषार्थ करते रहो । किन्तु इस में आलस्य कभी मत करो । ईश्वर का यह उपदेश सब मनुष्यों के लिये है ॥ ११ ॥ (ओजश्च) धर्म के पालन से युक्त जो पराक्रम, (तेजश्च) प्रगल्भता अर्थात् भयरहित होके दीनता से दूर रहना, (सहश्च) सुख, दुःख, हानि, लाभ आदि की प्राप्ति में भी हर्ष शोकादि छोड़ के सत्य धर्म में दृढ़ रहना, दुःख का निवारण और सहन करना, (बलं च) ब्रह्मचर्य आदि अच्छे नियमों से शरीर का आरोग्य, बुद्धि की चतुराई आदि बल का बढ़ाना, (वाक् च)

सत्य विद्या की शिक्षा, सत्य मधुर अर्थात् कोमल प्रिय भाषण का करना, (इन्द्रियं च) जो मन, पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय हैं उन को पाप कर्मों से रोक के सदा सत्य पुरुषार्थ में प्रवृत्त रखना, (श्रीश्च) चक्रवर्त्तिराज्य की सामग्री को सिद्ध करना, (धर्मश्च) जो वेदोक्त, न्याय से युक्त हो के, पक्षपात को छोड़ के, सत्य ही का सदा आचरण और असत्य का त्याग करना है, तथा जो सब का उपकार करने वाला और जिस का फल इस जन्म और परजन्म में आनन्द है, उसी को धर्म और उस से उलटा करने को अधर्म कहते हैं, उसी धर्म की यह सब व्याख्या है, कि जो (संगच्छध्वं०) इस मन्त्र से लेके (यतोभ्युदय०) इस सूत्र तक जितने धर्म के लक्षण लिखे हैं वे सब लक्षण मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य हैं ॥ १२ ॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥ १३ ॥ आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥ १४ ॥ पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ १५ ॥ अथर्व० कां० १२ । अनु० ५ । सू० ५ । खं० २ । मं० ८ । ९ । १० ॥

भाष्यम्

इत्याद्यनेकमन्त्रप्रमाणैर्धर्मोपदेशो वेदेष्वीश्वरेणैव सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टोस्ति । (ब्रह्म च) ब्राह्मणोपलक्षणं सर्वोत्तमविद्यागुणकर्मवत्त्वं सद्गुणप्रचारकरणत्वं च ब्राह्मणलक्षणं, तच्च सदैव वर्धयितव्यम्, (क्षत्रं च) क्षत्रियोपलक्षणं विद्याचातुर्य्यशौर्यधैर्य्यवीरपुरुषान्वितं च सदैवोन्नेयम्, (राष्ट्रं च) सत्पुरुषसभया सुनियमैः सर्वसुखाढ्यं शुभगुणान्वितं च राज्यं सदैव कार्य्यम्, (विशश्च) वैश्यादिप्रजानां व्यापारादिकारिणां भूगोले ह्यव्याहतगतिसंपादनेन व्यापाराद्धनवृद्ध्यर्थं संरक्षणं च कार्य्यम्, (त्विषिश्च) दीप्तिः शुभगुणानां प्रकाशः सत्यगुणकामना च शुद्धा प्रचारणीयेति, (यशश्च) धर्मान्वितानुत्तमा कीर्त्तिः संस्थापनीया, (वर्चश्च) सद्विद्याप्रचारं सम्यगध्ययनाध्यापनप्रबन्धं कर्म सदा कार्य्यम्, (द्रविणं च) अप्राप्तस्य पदार्थस्य न्यायेन प्राप्तीच्छा कार्य्या, प्राप्तस्य संरक्षणं, रक्षितस्य वृद्धिर्वृद्धस्य सत्कर्मसु व्ययश्च योजनीयः । एतच्चतुर्विधपुरुषार्थेन धनधान्योन्नतिसुखे सदैव कार्य्ये ॥ १३ ॥ (आयुश्च) वीर्य्यादिरक्षणेन भोजनाच्छादनादिसुनियमेन ब्रह्मचर्य्यसुसेवनेनायुर्बलं कार्य्यम्, (रूपं च) निरन्तरविषयासेवनेन सदैव सौन्द-

र्य्यादिगुणयुक्तं स्वरूपं रक्षणीयम्, (नाम च) सत्कर्मानुष्ठानेन नामप्रसिद्धिः कार्य्या, यतोऽन्यस्यापि सत्कर्मस्तूत्साहवृद्धिः स्यात्, (कीर्त्तिश्च) सद्गुणग्रहणार्थमीश्वरगुणानामुपदेशार्थं कीर्त्तनं, स्वसत्कीर्त्तिमत्त्वं च सदैव कार्य्यम्, (प्राणश्चापानश्च) प्राणायामरीत्या प्राणापानयोः शुद्धिबले कार्य्ये । शरीराद्बाह्यदेशं यो वायुर्गच्छति स प्राणः । बाह्यदेशाच्छरीरं प्रविशति स वायुरपानः । शुद्धदेशनिवासादिनैनयोः प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां बुद्धिशारीरबलं च संपादनीयम्, (चक्षुश्च श्रोत्रं च) चाक्षुषं प्रत्यक्षं, श्रौत्रं शब्दजन्यं, चादनुमानादीन्यपि प्रमाणानि यथावद्वेदितव्यानि, तैः सत्यं विज्ञानं च सर्वथा कार्य्यम् ॥ १४ ॥ (पयश्च रसश्च) पयो जलादिकं, रसो दुग्धघृतादिश्चैतौ वैद्यकरीत्या सम्यक् शोधयित्वा भोक्तव्यौ, (अन्नं चान्नाद्यं च) अन्नमोदनादिकमन्नाद्यं भोक्तुमर्हं शुद्धं संस्कृतमन्नं संपाद्यैव भोक्तव्यम्, (ऋतं च सत्यं च) ऋतं ब्रह्म सर्वदैवोपासनीयं, सत्यं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षितं यादृशं स्वात्मन्यस्ति तादृशं सदा सत्यमेव वक्तव्यं मन्तव्यं च । (इष्टं च पूर्त्तं च) इष्टं ब्रह्मोपासनं सर्वोपकारकं यज्ञानुष्ठानं च, पूर्त्तं तु यत्पूर्त्यर्थं मनसा वाचा कर्मणा सम्यक् पुरुषार्थेनैव सर्ववस्तुसंभारैश्चोभयानुष्ठानपूर्त्तिः कार्य्येति, (प्रजा च पशवश्च) प्रजा सन्तानादिका राज्यं च सुशिक्षाविद्यासुखान्विता, हस्त्यश्वादयः पशवश्च सम्यक् शिक्षान्विताः कार्य्याः । बहुभिश्चकारैरन्येपि शुभगुणा अत्र ग्राह्याः ॥ १५ ॥

भाषार्थ

(ब्रह्म च) सब से उत्तम विद्या और श्रेष्ठ कर्म करने वालों को ही ब्राह्मण वर्ण का अधिकार देना, उस से विद्या का प्रचार कराना और उन लोगों को भी चाहिये कि विद्या के प्रचार में ही सदा तत्पर रहें । (क्षत्रं च) अर्थात् सब कामों में चतुरता, शूरवीरपन, धीरज, वीरपुरुषों से युक्त सेना का रखना, दुष्टों को दण्ड देना और श्रेष्ठों का पालन करना इत्यादि गुणों के बढ़ाने वाले पुरुषों को क्षत्रियवर्ण का अधिकार देना । (राष्ट्रञ्च) श्रेष्ठ पुरुषों की सभा के अच्छे नियमों से राज्य को सब सुखों से युक्त करना और उत्तम गुण सहित होके सब कामों को सदा सिद्ध करना चाहिये । (विशश्च) वैश्य आदि वर्णों को व्यापारादि व्यवहारों में भूगोल के बीच में जाने आने का प्रबन्ध करना और उनकी अच्छी रीति से रक्षा करनी अवश्य है, जिससे धनादि पदार्थों की संसार में बढ़ती हो । (त्विषिश्च) सब मनुष्यों में सब दिन सत्य

गुणों ही का प्रकाश करना चाहिये । (यशश्च) उत्तम कामों से भूगोल में श्रेष्ठ कीर्त्ति को बढ़ाना उचित है । (वर्चश्च) सत्यविद्याओं के प्रचार के लिये अनेक पाठशालाओं में पुत्र और कन्याओं का अच्छी रीति से पढ़ने पढ़ाने का प्रचार सदा बढ़ाते जाना चाहिये । (द्रविणं च) सब मनुष्यों को उचित है कि पूर्वोक्त धर्म से अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा से सदा पुरुषार्थ करना, प्राप्त पदार्थों की रक्षा यथावत् करनी चाहिये, रक्षा किये पदार्थों की सदा बढ़ती करना और सत्य विद्या के प्रचार आदि कामों में बढ़े हुए धनादि पदार्थों का खरच यथावत् करना चाहिये, इस चार प्रकार के पुरुषार्थ से धनधान्यादि को बढ़ा के सुख को सदा बढ़ाते जाओ ॥ १३ ॥ (आयुश्च) वीर्य्य आदि धातुओं की शुद्धि और रक्षा करना, तथा युक्तिपूर्वक ही भोजन और वस्त्र आदि का जो धारण करना है, इन अच्छे नियमों से उमर को सदा बढ़ाओ । (रूपं च) अत्यन्त विषय-सेवा से पृथक् रह के और शुद्ध वस्त्र आदि धारण से शरीर का स्वरूप सदा उत्तम रखना । (नाम च) उत्तम कर्मों के आचरण से नाम की प्रसिद्धि करनी चाहिये, जिससे अन्य मनुष्यों का भी श्रेष्ठ कर्मों में उत्साह हो । (कीर्तिश्च) श्रेष्ठ गुणों के ग्रहण के लिये परमेश्वर के गुणों का श्रवण और उपदेश करते रहो, जिससे तुम्हारा भी यश बढ़े । (प्राणश्चापानश्च) जो वायु भीतर से बाहर आता है उसको प्राण और जो बाहर से भीतर जाता है उसको अपान कहते हैं । योगाभ्यास, शुद्ध देश में निवास आदि और भीतर से बल करके प्राण को बाहर निकाल के रोकने से शरीर के रोगों को छुड़ा के बुद्धि आदि को बढ़ाओ । (चक्षुश्च श्रोत्रं च) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव, इन आठ प्रमाणों के विज्ञान से सत्य का नित्य शोधन करके ग्रहण किया करो ॥ १४ ॥ (पयश्च रसश्च) जो पय अर्थात् दूध, जल आदि और जो रस अर्थात् शक्कर, ओषधि और घी आदि हैं इनको वैद्यक शास्त्रों की रीति से यथावत् शोध के भोजन आदि करते रहो । (अन्नं चान्नाद्यं च) वैद्यक शास्त्र की रीति से चावल आदि अन्न का यथावत् संस्कार करके भोजन करना चाहिये । (ऋतं च सत्यं च) ऋत नाम जो ब्रह्म है, उसी की सदा उपासना करनी, जैसा हृदय में ज्ञान हो सदा वैसा ही भाषण करना और सत्य को ही मानना चाहिये । (इष्टं च पूर्त्तं च) इष्ट जो ब्रह्म है उसी की उपासना और जो पूर्वोक्त यज्ञ सब संसार को सुख देने वाला है उस इष्ट की सिद्धि करने की पूर्त्ति और जिस २ उत्तम कामों के आरम्भ को यथावत् पूर्ण करने के लिये जो २ अवश्य हो सो २ सामग्री पूर्ण करनी चाहिये ।

(प्रजा च पशवश्च) सब मनुष्य लोग अपने संतान और राज्य को अच्छी शिक्षा दिया करें और हस्ती तथा घोड़े आदि पशुओं को भी अच्छी रीति से सुशिक्षित करना उचित है । इन मन्त्रों में और भी अनेक प्रयोजन हैं कि सब मनुष्य लोग अन्य भी धर्म के शुभ लक्षणों का ग्रहण करें ॥ १५ ॥

भाष्यम्

अत्र धर्मविषये तैत्तिरीयशाखाया अन्यदपि प्रमाणम् । ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च स्वा० । तपश्च स्वा० । दमश्च० स्वा० । शमश्च स्वा० । अग्नयश्च स्वा० । अग्निहोत्रं च स्वा० । अतिथयश्च स्वा० । मानुषं च स्वा० । प्रजा च स्वा० । प्रजनश्च स्वा० । प्रजातिश्च स्वा० । सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचन एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥ १ ॥ वेदमनूच्याचार्य्योन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्र० । कुशलान्न प्र० । भूत्यै न प्र० । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्र० । देवपितृकार्य्याभ्यां न प्र० । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि । यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥ २ ॥ एके चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणा सम्मर्शिनः । युक्ता* अयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्त्तेरन् । तथा तत्र वर्त्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता* अयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्त्तेरन् । तथा तेषु वर्त्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥ ४ ॥ तैत्तिरीय आरण्यके । प्रपा० ७ । अनु० ६ । ११ ॥

(एतेषामभि०) सर्वैर्मनुष्यैरेतानि वक्ष्यमाणानि धर्मलक्षणानि सदैव सेव्यानीति । (ऋतं च०) यथार्थस्वरूपं वा ज्ञानं, (सत्यं च०) सत्यस्याचरणं च,

* बङ्गीयैशियाटिक सोसाइटी मुद्रित तैत्तिरीये "आयुक्ताः" इति पाठः

(तपश्च०) ज्ञानधर्मयोर्ऋतादिधर्म्मलक्षणानां यथावदनुष्ठानम्, (दमश्च०) अधर्माचरणादिन्द्रियाणि सर्वथा निवर्त्त्य तेषां सत्यधर्माचरणे सदैव प्रवृत्तिः कार्य्या, (शमश्च०) नैव मनसापि कदाचिदधर्मकरणेच्छा कार्य्येति, (अग्नयश्च०) वेदादिशास्त्रेभ्योऽग्न्यादिपदार्थेभ्यश्च पारमार्थिकव्यावहारिकविद्योपकारकरणम्, (अग्निहोत्रं च०) नित्यहोममारभ्याश्वमेधपर्य्यन्तेन यज्ञेन वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वप्राणिनां सुखसंपादनं कार्य्यम्, (अतिथय०) पूर्णविद्यावतां धर्मात्मनां संगसेवाभ्यां सत्यशोधनं छिन्नसंशयत्वं च कार्य्यम्, (मानुषं च०) मनुष्यसम्बन्धिराज्यविद्यादिवित्तं सम्यक् सिद्धं कर्त्तव्यम्, (प्रजा च०) धर्मेणैव प्रजामुत्पाद्य सा सदैव सत्यधर्मविद्यासुशिक्षयान्विता कार्य्या, (प्रजनश्च०) वीर्य्यवृद्धिः पुत्रेष्टिरीत्या ऋतुप्रदानं च कर्त्तव्यम्, (प्रजातिश्च०) गर्भरक्षा जन्मसमये संरक्षणं सन्तानशरीरबुद्धिवर्धनं च कर्त्तव्यम्, (सत्यमिति०) मनुष्यः सदा सत्यवक्तैव भवेदिति राथीतराचार्य्यस्य मतमस्ति, (तप इति०) यदृतादिसेवनेनैव सत्यविद्याधर्मानुष्ठानमस्ति तन्नित्यमेव कर्त्तव्यमिति पौरुशिष्टेराचार्य्यस्य मतमस्ति, परन्तु नाकोमौद्गल्यस्येदं मतमस्ति स्वाध्यायो वेदविद्याध्ययनं, प्रवचनं तदध्यापनं चेत्युभयं सर्वेभ्यः श्रेष्ठतमं कर्मास्ति, इदमेव मनुष्येषु परमं तपोस्ति, नातः परमुत्तमं धर्मलक्षणं किंचिद्विद्यत इति । (वेदमनूच्या०) आचार्य्यः शिष्याय वेदानध्याप्य धर्ममुपदिशति हे शिष्य ! त्वया सदैव सत्यमेव वक्तव्यं, सत्यभाषणादिलक्षणो धर्मश्च सेवनीयः, शास्त्राध्ययनाध्यापने कदापि नैव त्याज्ये, आचार्य्यसेवा, प्रजोत्पत्तिश्च, सत्यधर्मकुशलतैश्चर्य्यसंवर्धनसेवने सदैव कर्त्तव्ये, देवा विद्वांसः, पितरो ज्ञानिनश्च, तेभ्यो ज्ञानग्रहणं, तेषां सेवनं च सदैव कार्य्यं,मेवं मातृपित्राचार्य्यातिथीनां सेवनं चैतत्सर्वं संप्रीत्या कर्त्तव्यम् । नैतत्कदापि प्रमादात्त्याज्यमिति । वक्ष्यमाणरीत्या मात्रादय उपदिशेयुः । भोः पुत्राः ! यान्युत्तमानि कर्म्माणि वयं कुर्मस्तान्येव युष्माभिराचरितव्यानि, यानि तु पापात्मकानि कानिचिदस्माभिः क्रियन्ते तानि कदापि नैवाचरणीयानि । येऽस्माकं मध्ये विद्वांसो ब्रह्मविदः स्युस्तत्संगस्तदुक्तविश्वासश्च सदैव कर्त्तव्यो नेतरेषाम् । मनुष्यैर्विद्यादिपदार्थदानं प्रीत्याऽप्रीत्या, श्रिया, लज्जया, भयेन, प्रतिज्ञया च सदैव कर्त्तव्यम् । अर्थात् प्रतिग्रहादानमतीव श्रेयस्करमिति । भोः शिष्य ! तव कस्मिंश्चित्कर्मण्याचरणे च संशयो भवेत्तदा ब्रह्मविदां, पक्षपातरहितानां, योगिनामधर्मात् पृथग्भूतानां,

विद्यादिगुणैः स्निग्धानां, धर्मकामानां, विदुषां सकाशादुत्तरं ग्राह्यं, तेषामेवाचरणं च । यादृशेन मार्गेण ते विचरेयुस्तेनैव मार्गेण त्वयापि गन्तव्यम् । अयमेव युष्माकं हृदय आदेश उपदेशो हि स्थाप्यत, इयमेव वेदानामुपनिषदस्ति । ईदृशमेवानुशासनं सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यम् । ईदृगाचरणपुरःसरमेव परमश्रद्धया सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपास्यं नान्यथेति ।

भाषार्थ

तैत्तिरीयशाखा में और भी धर्म का विषय है सो आगे लिखते हैं। (ऋतं च०) यह सब मनुष्यों को उचित है कि अपने ज्ञान और विद्या को बढ़ाते हुए एक ब्रह्म ही की उपासना करते रहें, उस के साथ वेदादि शास्त्रों का पढ़ना पढ़ना भी बराबर करते जायं । (सत्यं च०) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ठीक २ परीक्षा करके जैसा तुम अपने आत्मा में ज्ञान से जानते हो वैसा ही बोलो और उसी को मानो, उस के साथ पढ़ना पढ़ाना भी कभी न छोड़ो । (तपश्च०) विद्याग्रहण के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण करके सदा धर्म में निश्चित रहो । (दमश्च०) अपनी आंख आदि इन्द्रियों को अधर्म और आलस्य से छुड़ा के सदा धर्म में चलाओ । (शमश्च०) अपने आत्मा और मन को सदा धर्मसेवन में ही स्थिर रक्खो । (अग्नयश्च०) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध करो, तथा अनेक प्रकार से शिल्पविद्या की उन्नति करो । (अग्निहोत्रं च०) वायु और वृष्टिजल की शुद्धिद्वारा अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों से सब सृष्टि का उपकार सदा करते रहो । (अतिथयश्च०) जो सब जगत् के उपकार के लिये सत्यवादी, सत्यकारी, पूर्ण विद्वान् सब का सुख चाहने वाले हों उन सत्पुरुषों के सङ्ग से करने के योग्य व्यवहारों को सदा बढ़ाते रहो । (मानुषं च०) सब मनुष्यों के राज्य और प्रजा के ठीक ठीक प्रबन्ध से धन आदि पदार्थों को बढ़ा के, रक्षा करके और अच्छे कामों में खर्च करके, उन से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों फल की सिद्धि द्वारा अपना जन्म सफल करो । (प्रजा च०) अपने सन्तानों का यथायोग्य पालन, शिक्षा से विद्वान् करके, सदा धर्मात्मा और पुरुषार्थी बनाते रहो । (प्रजनश्च०) जो सन्तानों की उत्पत्ति करने का व्यवहार है उस को पुत्रेष्टि कहते हैं, उस में श्रेष्ठ भोजन और ओषध सेवन सदा करते रहो, तथा ठीक २ गर्भ की रक्षा भी करो । (प्रजातिश्च०) पुत्र और कन्याओं के जन्म समय में स्त्री और बालकों की रक्षा युक्तिपूर्वक करो । ऋत से लेके प्रजाति पर्यन्त धर्म के जो बारह

लक्षण होते हैं उन सब के साथ स्वाध्याय जो पढ़ना और प्रवचन जो पढ़ाने का उपदेश किया है सो इसलिये है कि पूर्वोक्त जो धर्म के लक्षण हैं वे तब प्राप्त हो सकते हैं कि जब मनुष्य लोग सत्य विद्या को पढ़ें और तभी सदा सुख में रहेंगे। क्योंकि सब गुणों में विद्या ही उत्तम गुण है। इसलिये सब धर्मलक्षणों के साथ स्वाध्याय और प्रवचन का ग्रहण किया है, सो इन का त्याग करना कभी न चाहिये। (सत्यमिति०) हे मनुष्य लोगो ! तुम सब दिन सत्यवचन ही बोलो। (तप इति०) धर्म और ईश्वर की प्राप्ति करने के लिये नित्य विद्याग्रहण करो अर्थात् विद्या का जो पढ़ना, पढ़ाना है यही सब से उत्तम है ॥ १ ॥ (वेदमनूच्या०) जो आचार्य अर्थात् विद्या और शिक्षा का देने वाला है वह विद्या पढ़ने के समय और जब तक न पढ़ चुके तब तक अपने पुत्र और शिष्यों को इस प्रकार उपदेश करे कि हे पुत्रो ! वा शिष्य लोगो ! तुम सदा सत्य ही बोला करो, और धर्म का ही सेवन करके एक परमेश्वर ही की भक्ति किया करो, इस में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो, आचार्य को अनेक उत्तम पदार्थ देकर प्रसन्न करो, और युवावस्था में ही विवाह करके प्रजा की उत्पत्ति करो, तथा सत्य धर्म को कभी मत छोड़ो, कुशलता अर्थात् चतुराई को सदा ग्रहण करके भूति अर्थात् उत्तम ऐश्वर्य को सदा बढ़ाते जाओ, और पढ़ने पढ़ाने में कभी आलस्य मत करो ॥ १ ॥ (देव पितृ०) देव जो विद्वान् लोग और पितृ अर्थात् ज्ञानी लोगों की सेवा और सङ्ग से विद्या के ग्रहण करने में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो। माता, पिता, आचार्य अर्थात् विद्या के देनेवाले और अतिथि जो सत्य उपदेश के करने वाले विद्वान् पुरुष हैं उन की सेवा में आलस्य कभी मत करो। ऐसे ही सत्यभाषणादि शुभ गुणों और कर्मों ही का सदा सेवन करो। किन्तु मिथ्याभाषणादि को कभी मत करो। माता, पिता और आचार्य आदि अपने सन्तानों तथा शिष्यों को ऐसा उपदेश करें कि हे पुत्रो ! वा शिष्य लोगो ! हमारे जो सुचरित्र अर्थात् अच्छे काम हैं तुम लोग उन्हीं का ग्रहण करो किन्तु हमारे बुरे कामों को कभी नहीं। जो हमारे बीच में विद्वान् और ब्रह्म के जानने वाले धर्मात्मा मनुष्य हैं उन्हीं के वचनों में विश्वास करो और उन को प्रीति वा अप्रीति से, श्री वा लज्जा से, भय अथवा प्रतिज्ञा से सदा दान देते रहो, तथा विद्यादान सदा करते जाओ। और जब तुम को किसी बात में संदेह हो तब पूर्ण विद्वान्, पक्षपातरहित, धर्मात्मा मनुष्यों से पूछ के शङ्कानिवारण सदा करते रहो। वे लोग जिस २ प्रकार से जिस २

धर्म काम में चलते होवें वैसे ही तुम भी चलो। यही आदेश अर्थात् अविद्या को हटा के उस के स्थान में विद्या का और अधर्म को हटा के धर्म का स्थापन करना है। इसी को उपदेश और शिक्षा भी कहते हैं। इसी प्रकार शुभ लक्षणों को ग्रहण करके एक परमेश्वर ही की सदा उपासना करो।

भाष्यम्

ऋतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः, शान्तं तपो, दमस्तपः, शमस्तपो, दानं तपो, यज्ञस्तपो, भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्स्वैतत्तपः ॥ तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० । अनु० ८ ॥ इदानीं तपसो लक्षणमुच्यते ॥ [ऋतं] यत्तत्त्वं ब्रह्मण एवोपासनं, यथार्थज्ञानं च, (सत्यं०) सत्यकथनं, सत्यमाचरणं च, (श्रुतं०) सर्वविद्याश्रवणं, श्रावणं च, (शान्तं०) अधर्मात्पृथक्कृत्य मनसो धर्मे संस्थापनं मनःशान्तिः, (दमस्त०) इन्द्रियाणां धर्म एव प्रवर्त्तनमधर्मान्निवर्त्तनं च, (शमस्त०) मनसोपि निग्रहश्चाधर्माद्धर्मे प्रवर्त्तनं च, (दानं त०) तथा सत्यविद्यादिदानं सदा कर्त्तव्यम्, (यज्ञस्त०) पूर्वोक्तं यज्ञानुष्ठानं चैतत्सर्वं तपश्शब्देन गृह्यते नान्यदिति। अन्यच्च। (भूर्भु०) हे मनुष्य ! सर्वलोकव्यापकं यद्ब्रह्मास्ति तदेव त्वमुपास्स्वेदमेव तपो मन्यध्वं नातो विपरीतमिति।

भाषार्थ

(ऋतं तपः०) तप इस को कहते कि जो (ऋत) अर्थात् यथार्थ तत्त्व मानने, सत्य बोलने, (श्रुत) अर्थात् सब विद्याओं को सुनने, (शान्त) अर्थात् उत्तम कर्म करने और अच्छे स्वभाव के धारने में सदा प्रवृत्त रहो। तथा पूर्वोक्त दम, शम, दान, यज्ञ और प्रेम भक्ति से, तीनों लोक में व्यापक ब्रह्म की जो उपासना करना है उसको भी तप कहते हैं। ऋत आदि का अर्थ प्रथम कर दिया है।

भाष्यम्

सत्यं परं परꣳसत्यꣳसत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन, सताꣳहि सत्यं, तस्मात्सत्ये रमन्ते। तप इति तपो नानशनात्परं, यद्धि परं तपस्तद्दुर्धर्षं, तद्दुराधर्षं, तस्मात्तपसि०। दम इति नियतं ब्रह्मचारिणस्तस्माद्दमे०। शम इत्यरण्ये मुनयस्तस्माच्छमे०। दानमिति सर्वाणि भूतानि प्रशꣳसन्ति, दानान्नातिदुष्करं, तस्माद्दाने०। धर्म इति धर्मेण सर्वमिदं परिगृहीतं, धर्मान्नातिदुश्चरं, तस्माद्धर्मे०। प्रजन इति भूयाꣳस,स्तस्माद्भूयिष्ठाः प्रजायन्ते, तस्माद्भूयिष्ठाः,प्रजनने०।

अग्नय इत्याह, तस्मादग्नय आधातव्याः । अग्निहोत्रमित्याह, तस्मादग्निहोत्रे० । यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवंगतास्तस्माद्यज्ञे० । मानसमिति विद्वाᳪंस,स्तस्माद्विदाᳪंस एव मानसे रमन्ते । न्यास इति ब्रह्मा, ब्रह्मा हि परः, परो हि ब्रह्मा, तानि वा एतान्यवराणि तपाᳪंसि, न्यास एवात्यरेचयत् । य एवं वेदेत्युपनिषत् । प्राजापत्यो हारुणिः सुपर्णेयः प्रजापतिं पितरमुपससार किं भगवन्तः परमं वदन्तीति । तस्मै प्रोवाच । सत्येन वायुरावाति, सत्येनादित्यो रोचते दिवि, सत्यं वाचः प्रतिष्ठा, सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति । तपसा देवा देवतामग्र आय,न्तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन्, तपसा सपत्नान्प्रणुदामाराती,स्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात्तपः प० । दमेन दान्ताः किल्विषमवधून्वन्ति, दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन्, दमो भूतानां दुराधर्षं, दमे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्दमं प० । शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति, शमेन नाकं मुनयोन्वविन्द,ञ्छमो भूतानां दुराधर्षं, शमे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माच्छमं प० । दानं यज्ञानां वरूथं दक्षिणा, लोके दातारᳪं सर्वभूतान्युपजीवन्ति, दानेनारातीरपानुदन्त, दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, दाने सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्दानं प० । धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्धर्मं प० । प्रजननं वै प्रतिष्ठा, लोके साधु प्रजायास्तन्तुं तन्वानः पितृणामनृणो भवति, तदेव तस्य अनृणं, तस्मात्प्रजननं प० । अग्नयो वै त्रयीविद्या देवयानः पन्था, गार्हपत्य ऋक् पृथिवी रथन्तर,मन्वाहार्य्यपचनो यजुरन्तरिक्षं वामदेव्य,माहवनीयः साम सुवर्गोलोको बृहत्, तस्मादग्नीन्प० । अग्निहोत्रᳪंसायं प्रातर्गृहाणां निष्कृतिः, स्विष्टᳪं, सुहुतं, यज्ञक्रतूनां प्रायणᳪं, सुवर्गस्य लोकस्य ज्योति,स्तस्मादग्निहोत्रं प० । यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवंगता, यज्ञेनासुरानपानुदन्त, यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्यज्ञं प० । मानसं वै प्राजापत्यं, पवित्रं, मानसेन मनसा साधु पश्यति, मानसा ऋषयः प्रजा असृजन्त, मानसे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मान्मानसं परमं वदन्ति ॥ तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० । अनु० ६२ । ६३ ॥ [अयमभि०] (सत्यं प०) सत्यभाषणात्सत्याचरणाच्च परं धर्मलक्षणं किंचिन्नास्त्येव । कुतः । सत्येनैव नित्यं मोक्षसुखं संसारसुखं च प्राप्य पुनस्तस्मान्नैव कदापि च्युतिर्भवति । सत्पुरुषाणामपि सत्याचरणमेव लक्षणमस्ति तस्मात्कारणात्सर्वैर्मनुष्यैः सत्ये खलु रमणीयमिति । तपस्तु ऋतादिधर्मलक्षणानुष्ठानमेव ग्राह्यम् । एवं सम्यग्ब्रह्मचर्य्यसेवनेन

विद्याग्रहणं ब्रह्म इत्युच्यते । एवमेव दानादिष्वर्थगतिः कार्य्या । विदुषो लक्षणं मानसो व्यापारः । एवमेव सत्येन ब्रह्मणा वायुरागच्छति । सत्येनादित्यः प्रकाशितो भवति । सत्येनैव मनुष्याणां प्रतिष्ठा जायते नान्यथेति । मानसा ऋषयः प्राणाः विज्ञानादयश्चेति ।

भाषार्थ

(सत्यं परं०) अब सत्य का स्वरूप दिखाया जाता है कि जिस का ऋत भी नाम है, सत्य भाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई भी नहीं है । क्योंकि सत्पुरुषों में भी सत्य ही सत्पुरुषपन है । सत्य से ही मनुष्यों को व्यवहार और मुक्ति का उत्तम सुख मिलता है । जिससे छूट के वे दुःख में कभी नहीं गिरते । इसलिये सब मनुष्यों को सत्य में ही रमण करना चाहिये । (तप इति०) जो अन्याय से किसी के पदार्थ को ग्रहण [न] करना, जिसका ऋत आदि लक्षण कह चुके हैं, जो अत्यन्त उत्तम और यद्यपि करने में कठिन भी है, तदपि बुद्धिमान् मनुष्य को करना सब सुगम है, इस से तप में नित्य ही निश्चित रहना ठीक है । (दम इति०) जितेन्द्रिय हो के जो विद्या का अभ्यास और धर्म का आचरण करना है उसमें मनुष्यों को नित्य प्रवृत्त होना चाहिये । (दानमिति०) दान की स्तुति सब लोग करते हैं और जिससे कठिन कर्म दूसरा कोई भी नहीं है, जिससे शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, इस से दान करने का स्वभाव सब मनुष्यों को नित्य रखना चाहिये । (धर्म इति०) जो धर्मलक्षण प्रथम कह आये हैं, जो आगे कहेंगे, वे सब इसी धर्म के हैं । क्योंकि जो न्याय अर्थात् पक्षपात को छोड़ के सत्य का आचरण और असत्य का परित्याग करना है उसी को धर्म कहते हैं । यही धर्म का स्वरूप और सब से उत्तम धर्म है । सब मनुष्यों को इसी में सदा वर्त्तना चाहिये । (प्रजन इति०) जिससे मनुष्यों की बढ़ती होती है, जिस में बहुत मनुष्य रमण करते हैं, इससे जन्म को प्रजन कहते हैं । (अग्नय इत्याह०) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से सब शिल्पविद्या सिद्ध करनी उचित है (अग्निहोत्रं च०) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्य्यन्त होम करके सब जगत् का उपकार करने में सदा यत्न करना चाहिये । (मानसमिति०) जो विचार करने वाले मनुष्य हैं वही विद्वान् होते हैं । इस से विद्वान् लोग विचार ही में सदा रमण करते हैं । क्योंकि मन के विज्ञान आदि गुण हैं वे ही ईश्वर और जीव की सृष्टि के हेतु हैं । इस से मन का बल और

उसकी शुद्धि करना भी धर्म का उत्तम लक्षण है। (न्यास इति) ब्रह्मा बन के, अर्थात् चारों वेद को जान के, संसारी व्यवहारों को छोड़ के, न्यास अर्थात् संन्यास आश्रम करके, जो सब मनुष्यों को सत्यधर्म और सत्यविद्या से लाभ पहुंचाना है, यह भी विद्वान् मनुष्यों को धर्म का लक्षण जान के करना उचित है। (सत्येन वा०) सत्य को उत्तम इसलिये कहते हैं कि सत्य जो ब्रह्म है उस से सब लोगों का प्रकाश और वायु आदि पदार्थों का रक्षण होता है। सत्य से ही सब व्यवहारों में प्रतिष्ठा और परब्रह्म को प्राप्त हो के मुक्ति का सुख भी मिलता है। तथा सत्पुरुषों में सत्याचरण ही सत्पुरुषपन है। (तपसा देवा०) पूर्वोक्त तप से ही विद्वान् लोग परमेश्वर देव को प्राप्त होके, सब काम क्रोध आदि शत्रुओं को जीत के, पापों से छूट के, धर्म ही में स्थिर रह सकते हैं, इस से तप को भी श्रेष्ठ कहते हैं। (दमेन०) दम से मनुष्य पापों से अलग होके और ब्रह्मचर्य्य आश्रम का सेवन कर के, विद्या को प्राप्त होता है, इसलिये धर्म का दम भी श्रेष्ठ लक्षण है। (शमेन०) शम का लक्षण यह है कि जिस से मनुष्य लोग कल्याण का ही आचरण करते हैं, इस से यह भी धर्म का लक्षण है। (दानेन०) दान से ही यज्ञ अर्थात् दाता के आश्रय से सब प्राणियों का जीवन होता है और दान से ही शत्रुओं को भी जीत कर अपना मित्र कर लेते हैं, इस से दान भी धर्म का लक्षण है। (धर्मोवि०) सब जगत् की प्रतिष्ठा धर्म ही है, धर्मात्मा का ही लोक में विश्वास होता है, धर्म से ही मनुष्य लोग पापों को छुड़ा देते हैं, जितने उत्तम काम हैं वे सब धर्म में ही लिये जाते हैं, इसलिये सब से उत्तम धर्म को ही जानना चाहिये। (प्रजननं०) जिस से मनुष्यों का जन्म और प्रजा में वृद्धि होती है और जो परम्परा से ज्ञानियों की सेवा से ऋण अर्थात् बदले का पूरा करना होता है, इस से प्रजन भी धर्म का हेतु है। क्योंकि जो मनुष्यों की उत्पत्ति भी नहीं हो तो धर्म को ही कौन करै। इस कारण से भी धर्म को ही प्रधान जानो। (अग्नयो वै०) अर्थात् जिस से तुम लोग साङ्गोपाङ्ग तीनों वेदों को पढ़ो, क्योंकि विद्वानों के ज्ञानमार्ग को प्राप्त होके पृथिवी आकाश और स्वर्ग इन तीनों प्रकार की विद्या सिद्ध होती हैं। इस से इन तीनों अग्नि अर्थात् वेदों को श्रेष्ठ कहते हैं। (अग्निहोत्रं०) प्रातःकाल में संध्या और वायु तथा वृष्टिजल को दुर्गन्ध से छुड़ा के सुगन्धित करने से सब मनुष्यों को स्वर्ग अर्थात् सुख की प्राप्ति होती है। इसलिये अग्निहोत्र को भी धर्म का लक्षण कहते हैं। (यज्ञ इति) विद्या से ही विद्वान् लोग स्वर्ग अर्थात् सुख को प्राप्त होते और शत्रुओं को जीत के अपना

मित्र कर लेते हैं। इस से विद्या और अध्वर्यु आदि यज्ञ को भी धर्म का लक्षण कहते हैं। (मानसं वै०) मन के शुद्ध होने से ही विद्वान् लोग प्रजापति अर्थात् परमेश्वर को जान के नित्य सुख को प्राप्त हो सकते हैं। पवित्र मन से सत्य ज्ञान होता है और उस में जो विज्ञान आदि ऋषि अर्थात् गुण हैं उन से परमेश्वर और जीव लोग भी अपनी २ सब प्रजा को उत्पन्न करते हैं। अर्थात् परमेश्वर के विद्या आदि गुणों से मनुष्य की प्रजा उत्पन्न होती है। इस से मन को जो पवित्र और विद्यायुक्त करना है ये भी धर्म के उत्तम लक्षण और साधन हैं। इससे मन के पवित्र होने से सब धर्मकार्य सिद्ध होते हैं। ये सब धर्म के ही लक्षण हैं। इन में से कुछ तो पूर्व कह दिये और कुछ आगे भी कहेंगे।

भाष्यम्

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्य्येण नित्यम्। अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ १ ॥ सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ २ ॥ मुण्डकोपनिषदि। मुं० ३। खं० १। मं० ५। ६ ॥ अनयोरर्थः । (सत्येन लभ्य०) सत्येन सत्यधर्माचरणेनैवात्मा परमेश्वरो लभ्यो नान्यथेत्ययं मन्त्रः सुगमार्थः ॥ १ ॥ (सत्यमेव०) सत्यमाचरितमेव जयते, तेनैव मनुष्यः सदा विजयं प्राप्नोति। अनृतेनाधर्माचरणेन पराजयं च। तथा सत्यधर्मेणैव देवयानो, विदुषां यः सदानन्दप्रदो मोक्षमार्गोस्ति, सोपि सत्येनैव विस्तृतः प्रकाशितो भवति। येन च सत्यधर्मानुष्ठानप्रकाशितेन मार्गेणाप्तकामा ऋषयस्तत्राक्रमन्ति गच्छन्ति यत्र सत्यस्य धर्मस्य परमं निधानमधिकरणं ब्रह्म वर्त्तते, तत्प्राप्य नित्यानन्दमोक्षप्राप्ता भवन्ति। नान्यथेति। अतएव सत्यधर्मानुष्ठानमधर्मत्यागश्च सर्वैः कर्त्तव्य इति।

भाषार्थ

(सत्येन लभ्यस्तपसा०) अर्थात् जो सत्य आचरणरूप धर्म का अनुष्ठान, ठीक २ विज्ञान और ब्रह्मचर्य्य करते हैं इन्हीं शुभगुणों से सब का आत्मा परमेश्वर जाना जाता है। जिसको निर्दोष अर्थात् धर्मात्मा ज्ञानी संन्यासी लोग देखते हैं। सो सब के आत्माओं का भी आत्मा, प्रकाशस्वरूप और सब दिन शुद्ध है। उसी की आज्ञा पालन करना सब मनुष्यों को चाहिये ॥ १ ॥ (सत्यमेव जय०) जो सत्य का

आचरण करनेवाला है वही मनुष्य सदा विजय और सुख को प्राप्त होता है और जो मिथ्या आचरण अर्थात् झूठे कामों का करने वाला है वह सदा पराजय और दुःख ही को प्राप्त होता है। विद्वानों का जो मार्ग है सो भी सत्य के आचरण से ही खुल जाता है, जिस मार्ग से आप्त-काम, धर्मात्मा विद्वान् लोग चल के सत्य सुख को प्राप्त होते हैं, जहां ब्रह्म ही का सत्यस्वरूप सुख सदा प्रकाशित होता है, सत्य से ही उस सुख को वे प्राप्त होते हैं, असत्य से कभी नहीं। इससे सत्यधर्म का आचरण और असत्य का त्याग करना सब मनुष्यों को उचित है ॥ २ ॥

अन्यच्च । चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥१॥ पू० मी० अ० १ । पा० १ । सू० २ ॥ यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥२॥ वैशेषिके । अ० १ । पा० १ । सू० २ ॥ अनयोरर्थः (चोदना०) वेदद्वारा या सत्यधर्माचरणस्य प्रेरणास्ति तयैव सत्यधर्मो लक्ष्यते । योऽनर्थादधर्माचरणाद्बहिरस्त्यतो धर्माख्यां लब्ध्वाऽर्थो भवति । यस्येश्वरेण निषेधः क्रियते सोऽनर्थरूपत्वादधर्म्मोऽयमिति ज्ञात्वा सर्वैर्मनुष्यैस्त्याज्य इति ॥ १ ॥ (यतोभ्यु०) यस्याचरणादभ्युदयः सांसारिक-मिष्टसुखं सम्यक् प्राप्तं भवति, येन च निःश्रेयसं पारमार्थिकं मोक्षसुखं च, स एव धर्मो विज्ञेयः । अतो विपरीतो ह्यधर्मश्च । इदमपि वेदानामेव व्याख्यानमस्ति । इत्यनेकमन्त्रप्रमाणसाक्ष्यादिधर्मोपदेशो वेदेष्वीश्वरेण सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टोऽस्ति । एक एवायं सर्वेषां धर्मोस्ति नैव चास्माद्द्वितीयोस्तीति वेदितव्यम् ॥२॥

इति वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः समाप्तः

भाषार्थ

(चोदना०) ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिये जिसके करने की आज्ञा दी है वही धर्म और जिसके करने की प्रेरणा नहीं की है वह अधर्म कहाता है। परन्तु वह धर्म अर्थयुक्त अर्थात् अधर्म का आचरण जो अनर्थ है उससे अलग होता है। इससे धर्म का ही जो आचरण करना है वही मनुष्यों में मनुष्यपन है ॥ १ ॥ (यतोभ्यु०) जिसके आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति होती है उसी का नाम धर्म है। यह भी वेदों की व्याख्या है। इत्यादि अनेक वेदमन्त्रों के प्रमाणों और ऋषि मुनियों की साक्षियों से यह धर्म का उपदेश किया है कि सब मनुष्यों को इसी धर्म के काम करना उचित है। इससे विदित हुआ कि सब मनुष्यों के लिये धर्म और अधर्म एक ही हैं, दो नहीं। जो कोई इसमें भेद करे तो उस को अज्ञानी और मिथ्यावादी ही समझना चाहिये।

इति वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः

अथ सृष्टिविद्याविषयः संक्षेपतः ।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमाऽपरो यत् । किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ १ ॥ न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः । आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥२॥ तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् । तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तप-सस्तन्महिना जायतैकम् ॥३॥ कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ ४ ॥ तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् । रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥५॥ को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं वि-सृष्टिः । अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥६॥ इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न । यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥ ऋ० अ० ८ । अ० ७ । व० १७ ।

भाष्यम्

एतेषामभिप्रायार्थः । यदिदं सकलं जगद्दृश्यते, तत् परमेश्वरेणैव सम्यग्रचयि-त्वा, संरक्ष्य, प्रलयावसरे वियोज्य च, विनाश्यते, पुनः पुनरेवमेव सदा क्रियत इति । (नासदासी०) यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत्तदाऽसत्, सृष्टेः प्राक् शून्यमा-काशमपि नासीत् । कुतः । तद्व्यवहारस्य वर्त्तमानाभावात् । (नो सदासीत्तदा-नीं०) तस्मिन्काले सत्, प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं, सत्संज्ञकं यज्जगत्कारणं, तदपि नो आसीन्नावर्त्तत । (नासीद्र०) परमाणवोऽपि नासन् । (नो व्योमापरो यत्) व्योमाकाशमपरं यस्मिन् विराडाख्ये सोऽपि नो आसीत्, किन्तु परब्रह्मणः साम-र्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकमेव तदानीं समवर्तत । (किमा-वरीवः०) यत्प्रातः कुहकस्य वर्षाकाले धूमाकारेण वृष्टं किञ्चिज्जलं वर्त्तमानं भवति । यथा नैतज्जलेन पृथिव्यावरणं भवति, नदीप्रवाहादिकं च चलति । अत एवोक्तं तज्जलं गहनं गभीरं किं भवति ? । नेत्याह । किं, त्वावरीवः । आवरक-

माच्छादकं भवति नैव कदाचित्, तस्यातीवाल्पत्वात्। तथैव सर्वं जगत् तत्साम- र्थ्यादुत्पन्नमस्ति तच्छर्मणि शुद्धे ब्रह्मणि। किं गहनं गभीरमधिकं भवति ?। नेत्याह। अतस्तद्ब्रह्मणः कदाचिन्नैवावरकं भवति। कुतः। जगतः किञ्चिन्मा- त्रत्वाद्ब्रह्मणोऽनन्तत्वाच्च ॥ १ ॥ न मृत्युरासीदित्यादिकं सर्वं सुगमार्थमेषामर्थं भाष्ये वक्ष्यामि। (इयं विसृष्टिः) यतः परमेश्वरादियं प्रत्यक्षा विसृष्टिर्विविधा सृष्टिराबभूवोत्पन्नासीदस्ति तां स एव दधे धारयति रचयति, यदि वा विनाश- यति, यदि वा न रचयति। योऽस्य सर्वस्याध्यक्षः स्वामी, (परमे व्योमन्) तस्मिन्परमाकाशात्मनि परमे प्रकृष्टे व्योमवद्व्यापके परमेश्वर एवेदानीमपि सर्वा सृष्टिर्वर्त्तते। प्रलयावसरे सर्वस्यादिकारणे परब्रह्मसामर्थ्ये प्रलीना च भवति। (सोध्यक्षः) स सर्वाध्यक्षः परमेश्वरोस्ति। (अङ्गवेद) हे अंग ! मित्र जीव ! तं यो वेद स विद्वान् परमानन्दमाप्नोति। यदि तं सर्वेषां मनुष्याणां परमिष्टं सच्चिदा- नन्दादिलक्षणं नित्यं कश्चिन्नैव वेद, वा निश्चयार्थे, स परमं सुखमपि नाप्नोति॥७॥

भाषार्थ

(नासदासीत्) जब यह कार्य सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी। उस समय (असत्) शून्य नाम आकाश अर्थात् जो नेत्रों से देखने में नहीं आता सो भी नहीं था, क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था। (नोसदा- सीत्तदानीं०) उस काल में (सत्) अर्थात् सतोगुण रजोगुण और तमोगुण मिला के जो प्रधान कहाता है वह भी नहीं था। (नासीद्रजः) उस समय परमाणु भी नहीं थे। तथा (नो व्यो०) विराट् अर्थात् जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है सो भी नहीं था। (किमा०) जो यह वर्त्तमान जगत् है वह भी अनन्त शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढाक सकता और उससे अधिक वा अथाह भी नहीं हो सकता। जैसे कोहरा का जल पृथिवी को नहीं ढाक सकता है, उस जल से नदी में प्रवाह भी नहीं चल सकता और न वह कभी गहरा वा उथला हो सकता है। इससे क्या जाना जाता है कि परमेश्वर अनन्त है और जो यह उसका बनाया जगत् है सो ईश्वर की अपेक्षा से कुछ भी नहीं है ॥ १ ॥ (न मृत्यु०) जब जगत् नहीं था, तब मृत्यु भी नहीं था, क्योंकि जब स्थूल जगत् संयोग से उत्पन्न होके वर्त्तमान हो पुनः उस का और शरीर आदि का वियोग हो तब मृत्यु कहावे, सो शरीर आदि

पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुए थे । (न मृत्यु०) इत्यादि पांच मन्त्र सुगमार्थ हैं, इसीलिये इनकी व्याख्या भी यहां नहीं करते, किन्तु वेदभाष्य में करेंगे । (इयं विसृष्टिः०) जिस परमेश्वर के रचने से जो यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है, वह ही इस जगत् को धारण करता, नाश करता और मालिक भी है । हे मित्र लोगो ! जो मनुष्य उस परमेश्वर को अपनी बुद्धि से जानता है वही परमेश्वर को प्राप्त होता है और जो उसको नहीं जानता वही दुःख में पड़ता है । जो आकाश के समान व्यापक है, उसी ईश्वर में सब जगत् निवास करता है और जब प्रलय होता है तब भी सब जगत् कारणरूप होके ईश्वर के सामर्थ्य में रहता है और फिर भी उसी से उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० ७ । व० ३ । मं० १ ॥

भाष्यम्

(हिरण्यगर्भः०) अग्रे सृष्टेः प्राग्घिरण्यगर्भः परमेश्वरो जातस्यास्योत्पन्नस्य जगत एकोऽद्वितीयः पतिरेव समवर्त्तत । स पृथिवीमारभ्य द्युपर्य्यन्तं सकलं जगद्रचयित्वा (दाधार) धारितवानस्ति । तस्मै सुखस्वरूपाय देवाय हविषा वयं विधेमेति ॥ १ ॥

भाषार्थ

(हिरण्यगर्भः०) हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है वही एक सृष्टि के पहिले वर्त्तमान था । जो इस सब जगत् का स्वामी है और वही पृथिवी से लेके सूर्यपर्यन्त सब जगत् को रच के धारण कर रहा है । इसलिये उसी सुखस्वरूप परमेश्वर देव की ही हम लोग उपासना करें, अन्य की नहीं ॥ १ ॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिꣳसर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥ य० अ० ३१ । मं० १ ॥

भाष्यम्

(सहस्रशीर्षा०) अत्र मन्त्रे, पुरुष इति पदं विशेष्यमस्ति, सहस्रशीर्षेत्यादीनि विशेषणानि च । अत्र पुरुषशब्दार्थे प्रमाणानि । पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन् ॥ नि० अ० १ । खं० १३ ॥ (पुरि०) पुरि संसारे, शेते सर्वमभिव्याप्य वर्त्तते,

स पुरुषः परमेश्वरः ॥ पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः, पूरयतेर्वा, पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य । यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोस्ति किंचित् । वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरिषेण * सर्वमित्यपि निगमो भवति ॥ नि० अ० २ । खं० ३ ॥ (पुरुषः०) पुरि सर्वस्मिन्संसारेऽभिव्याप्य सीदति वर्त्तत इति, (पूरयतेर्वा) यः स्वयं परमेश्वर इदं सर्वं जगत् स्वस्वरूपेण पूरयति व्याप्नोति तस्मात्स पुरुषः, (अन्तरिति०) यो जीवस्याप्यन्तर्मध्येऽभिव्याप्य पूरयति तिष्ठति स पुरुषः । तमन्तरपुरुषमन्तर्यामिनं परमेश्वरमभिप्रेत्ययमृक् प्रवृत्तास्ति (यस्मात्परं०) यस्मात्पूर्णात्परमेश्वरात्पुरुषाख्यात्परं प्रकृष्टमुत्तमं किंचिदपि वस्तु नास्त्येव, पूर्वं वा, (नापरमस्ति) यस्मादपरमर्वाचीनं, तत्तुल्यमुत्तमं वा, किंचिदपि वस्तु नास्त्येव, तथा यस्मादणीयः सूक्ष्मं, ज्यायः स्थूलं महद्वा, किंचिदपि द्रव्यं न भूतं, न भवति, नैव च भविष्यतीत्यवधेयम् । यः स्तब्धो निष्कम्पः सर्वस्यास्थिरतां कुर्वन्सन् स्थिरोस्ति । क इव ? (वृक्ष इव) यथा वृक्षः शाखापत्रपुष्पफलादिकं धारयन् तिष्ठति, तथैव पृथिवीसूर्यादिकं सर्वं जगद्धारयन्परमेश्वरोभिव्याप्य स्थितोस्तीति । यश्चैकोऽद्वितीयोस्ति, नास्य कश्चित्सजातीयो, विजातीयो वा द्वितीय ईश्वरोस्तीति । तेन पुरिषेण पुरुषेण परमात्मना यत इदं सर्वं जगत् पूर्णं कृतमस्ति, तस्मात्पुरुषः परमेश्वर एवोच्यते । इत्ययं मन्त्रो निगमो, निगमनं, परं प्रमाणं भवतीति वेदितव्यम् । सर्वं वै सहस्रꣳसर्वस्य दाताऽसीत्यादि० ॥ श० कां० ७ । अ० ५ ॥ (सर्वं०) सर्वमिदं जगत्सहस्रनामकमस्तीति विज्ञेयम् । (सहस्रशी०) सहस्राण्यसंख्यातान्यस्मदादीनां शिरांसि यस्मिन्पूर्णे पुरुषे परमात्मनि, स सहस्रशीर्षा पुरुषः । (सहस्राक्षः स०) अस्मदादीनां सहस्राण्यक्षीण्यस्मिन्, एवमेव सहस्राण्यसंख्याताः पादाश्च यस्मिन्वर्त्तन्ते, स सहस्राक्षः सहस्रपाच्च । (स भूमिꣳसर्वतःस्पृत्वा) स पुरुषः परमेश्वरः सर्वतः सर्वेभ्यो बाह्यान्तर्देशेभ्यो, (भूमिरिति) भूतानामुपलक्षणं, भूमिमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तं सर्वं जगत्स्पृत्वाभिव्याप्य वर्त्तते, (अत्य०) दशाङ्गुलमिति ब्रह्माण्डहृदययोरुपलक्षणम् । अङ्गुलमित्यवयवोपलक्षणेन मितस्य जगतोऽत्र ग्रहणं भवति । पञ्च स्थूलभूतानि, पञ्च सूक्ष्माणि चैतदुभयं मिलित्वा दशावयवाख्यं सकलं जगदस्ति । अन्यच्च । पञ्च प्राणाः, सेन्द्रियं चतुष्टयमन्तःकरणं, दशमो जीवश्च । एवमेवा-

---

* पुरुषेणेति निरुक्ते (श्रीवेङ्कटेश्वरयन्त्रालयप्रकाशिते) पाठः ॥

न्यदपि जीवस्य हृदयं दशाङ्गुलपरिमितं च तृतीयं गृह्यते। एतत्त्रयं स्पृत्वा व्याप्यात्यतिष्ठत्। एतस्मात्त्रयाद्बहिरपि व्याप्तः सन्नत्रस्थितः। अर्थाद्बहिरन्तश्च पूर्णो भूत्वा परमेश्वरोऽवतिष्ठत इति वेद्यम्।

भाषार्थ

(सहस्रशी०) इस मन्त्र में पुरुष शब्द विशेष्य और अन्य सब पद उस के विशेषण हैं। पुरुष उसको कहते हैं कि जो इस सब जगत् में पूर्ण होरहा है, अर्थात् जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रक्खा है। पुर कहते हैं ब्रह्माण्ड और शरीर को। उसमें जो सर्वत्र व्याप्त और जो जीव के भीतर भी व्यापक अर्थात् अन्तर्यामी है। इस अर्थ में निरुक्त आदि का प्रमाण संस्कृत भाष्य में लिखा है, सो देख लेना। सहस्र नाम है संपूर्ण जगत् का और असंख्यात का भी नाम है। सो जिस के बीच में सब जगत् के असंख्यात शिर, आंख और पग ठहर रहे हैं, उस को सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात् भी कहते हैं। क्योंकि वह अनन्त है। जैसे आकाश के बीच में सब पदार्थ रहते और आकाश सब से अलग रहता है अर्थात् किसी के साथ बंधता नहीं है, इसी प्रकार परमेश्वर को भी जानो। (स भूमिꣳसर्वतः स्पृत्वा) सो पुरुष सब जगह से पूर्ण होके पृथिवी को तथा सब लोकों को धारण कर रहा है। (अत्यतिष्ठद०) दशाङ्गुलशब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है। अङ्गुलि शब्द अङ्ग का, अवयववाची है। पांच स्थूल भूत और पांच सूक्ष्म ये दोनों मिल के जगत् के दश अवयव होते हैं। तथा पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार और दशमां जीव और शरीर में जो हृदयदेश है सो भी दश अङ्गुल के प्रमाण से लिया जाता है। जो इन तीनों में व्यापक हो के इन के चारों ओर भी परिपूर्ण होरहा है, इससे वह पुरुष कहाता है। क्योंकि जो उस दशाङ्गुल स्थान का भी उल्लङ्घन करके सर्वत्र स्थिर है वही सब जगत् का बनानेवाला है॥ १॥

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ २॥

भाष्यम्

(पुरुष एवे०) एतद्विशेषणयुक्तः पुरुषः परमेश्वरः (यद्भूतं) यज्जगदुत्पन्नमभूत्, यद्भाव्यमुत्पत्स्यमानं, चकाराद्वर्त्तमानं च, तत्त्रिकालस्थं सर्वं विश्वं, पुरुष

एव कृतवानस्ति, नान्यः । नैवातो हि परः कश्चिज्जगद्रचयितास्तीति निश्चेतव्यम् । उतापि स एवेशान ईषणशीलः, सर्वस्येश्वरोऽमृतत्वस्य मोक्षभावस्य स्वामी दातास्ति । नैवैतद्दाने कस्याप्यन्यस्य सामर्थ्यमस्तीति । पुरुषो यद्यस्मादन्नेन पृथिव्यादिना जगता सहातिरोहति व्यतिरिक्तः सन् जन्मादिरहितोऽस्ति । तस्मात्स्वयमजः सन् सर्वं जनयति, स्वसामर्थ्यादिकारणात्कार्य्यं जगदुत्पादयति । नास्यादिकारणं किञ्चिदस्ति । किञ्च, सर्वस्यादिनिमित्तकारणं पुरुष एवास्तीति वेद्यम् ॥ २ ॥

भाषार्थ

(पुरुष एवे०) जो पूर्वोक्त विशेषण सहित पुरुष अर्थात् परमेश्वर है, सो जो जगत् उत्पन्न हुआ था, जो होगा और जो इस समय में है, इस तीन प्रकार के जगत् को वही रचता है । उससे भिन्न दूसरा कोई जगत् का रचनेवाला नहीं है । क्योंकि वह (ईशान) अर्थात् सर्वशक्तिमान् है । (अमृत०) जो मोक्ष है उस का देने वाला एक वही है, दूसरा कोई नहीं । सो परमेश्वर (अन्न०) अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक होके स्थित है और इस से अलग भी है । क्योंकि उस में जन्म आदि व्यवहार नहीं हैं और अपनी सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न भी करता है और आप कभी जन्म नहीं लेता ॥ २ ॥

एतावा॑नस्य महि॒माऽतो॒ ज्यायाँ॑श्च॒ पूरु॑षः । पादो॑ऽस्य॒ विश्वा॑ भू॒तानि॑ त्रि॒पाद॑स्या॒मृतं॑ दि॒वि ॥ ३ ॥

भाष्यम्

(एतावानस्य०) अस्य पुरुषस्य भूतभविष्यद्वर्त्तमानस्थो यावान् संसारोऽस्ति तावान् महिमा वेदितव्यः । एतावानस्य महिमास्ति चेतर्हि तस्य महिम्नः परिच्छेद इयत्ता जातेति गम्यते ? । अत्र ब्रूते (अतो ज्यायांश्च पूरुषः) नैतावन्मात्र एव महिमेति । किं तर्हि । अतोऽप्याधिकतमो महिमानन्तस्तस्यास्तीति गम्यते । अत्राह (पादोऽस्य०) अस्यानन्तसामर्थ्यस्येश्वरस्य (विश्वा) विश्वानि प्रकृत्यादिपृथिवीपर्य्यन्तानि सर्वाणि भूतान्येकः पादोऽस्ति, एकस्मिन्देशांशे सर्वं विश्वं वर्त्तते । (त्रिपादस्या०) अस्य दिवि द्योतनात्मके स्वस्वरूपेऽमृतं मोक्षसुखमस्ति । तथाऽस्य दिवि द्योतके संसारे त्रिपाज्जगदस्ति । प्रकाश्यमानं जगदेकगुणमस्ति, प्रकाशकं च तस्मात्त्रिगुणमिति । स्वयं च मोक्षस्वरूपः, सर्वाधिष्ठाता, सर्वोपास्यः, सर्वानन्दः, सर्वप्रकाशकोऽस्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ

(एतावानस्य०) तीनों काल में जितना संसार है सो सब इस पुरुष का ही महिमा है । प्र०—जब उस के महिमा का परिमाण है तो अन्त भी होगा ? उ०—(अतो ज्यायांश्च पूरुषः) उस पुरुष का अनन्त महिमा है, क्योंकि (पादोऽस्य विश्वाभूतानि) जो यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है सो इस पुरुष के एकदेश में वसता है । (त्रिपादस्यामृतं दिवि) और जो प्रकाश गुणवाला जगत् है सो उस से तिगुना है । तथा मोक्षसुख भी उसी ज्ञानस्वरूप प्रकाश में है और वह पुरुष सब प्रकाश का भी प्रकाश करने वाला है ॥ ३ ॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः । ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

भाष्यम्

(त्रिपाद्०) अयं पुरुषः परमेश्वरः पूर्वोक्तस्य त्रिपादोपलक्षितस्य सकाशादूर्ध्वमुपरिभागेऽर्थात्पृथग्भूतोऽस्त्येवेत्यर्थः । एकपादोपलक्षितं यत्पूर्वोक्तं जगदस्ति तस्मादपीहास्मिन्संसारे स पुरुषः पृथगभवत्, व्यतिरिक्त एवास्ति । स च त्रिपात्संसार एकपाच्च मिलित्वा सर्वश्चतुष्पाद्भवति । अयं सर्वः संसार इहास्मिन्परमात्मन्येव वर्त्तते, पुनर्लयसमये तत्सामर्थ्यकारणे प्रलीनश्च भवति । तत्रापि स पुरुषोऽविद्यान्धकाराज्ञानजन्ममरणज्वरादिदुःखादूर्ध्वः परः (उदैत्) उदितः प्रकाशितो वर्त्तते, (ततो वि०) ततस्तत्सामर्थ्यात् सर्वमिदं विश्वमुत्पद्यते । किञ्च तत् । (साशनानशने०) यदेकमशनेन भोजनकरणेन सह वर्त्तमानं जङ्गमं जीवचेतनादिसहितं जगत्, द्वितीयमनशनमविद्यमानमशनं भोजनं यस्मिंस्तत्पृथिव्यादिकं च यज्जडं जीवसम्बन्धरहितं जगद्वर्त्तते, तदुभयं, तस्मात्पुरुषस्य सामर्थ्यकारणादेव जायते । यतः स पुरुष एतद्द्विविधं जगत् विविधतया सुष्ठुरीत्या सर्वात्मतयाऽञ्चति, तस्मात् सर्वं द्विविधं जगदुत्पाद्य (अभिव्यक्रामत्) सर्वतो व्याप्तवानस्ति ॥ ४ ॥

भाषार्थ

(त्रिपादूर्ध्व उदैत्पु०) पुरुष जो परमेश्वर है सो पूर्वोक्त त्रिपाद् जगत् से ऊपर भी व्यापक होरहा है । तथा सदा प्रकाशस्वरूप, सब में भीतर व्यापक और सब से अलग भी है । (पादोस्येहाभवत्पुनः०) इस पुरुष की अपेक्षा से यह सब जगत् किञ्चित् मात्र देश में है और जो इस संसार के चार पाद होते हैं वे सब परमेश्वर के

बीच में ही रहते हैं। इस स्थूल जगत् का जन्म और विनाश सदा होता रहता है और पुरुष तो जन्म विनाश आदि धर्म से अलग और सदा प्रकाशमान है। (ततो विष्वङ् व्यक्रामत्) अर्थात् यह नाना प्रकार का जगत् उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है। (साशनान०) सो दो प्रकार का है, एक चेतन जो कि भोजनादि के लिये चेष्टा करता और जीव संयुक्त है और दूसरा अनशन अर्थात् जो जड़ और भोजन के लिये बना है। क्योंकि उस में ज्ञान ही नहीं है और अपने आप चेष्टा भी नहीं कर सकता। परन्तु उस पुरुष का अनन्त सामर्थ्य ही इस जगत् के बनाने की सामग्री है कि जिससे यह सब जगत् उत्पन्न होता है। सो पुरुष सर्वहितकारक होके उस दो प्रकार के जगत् को अनेक प्रकार से आनन्दित करता है। वह पुरुष इस का बनानेवाला, संसार में सर्वत्र व्यापक होके, धारण करके, देख रहा और वही सब जगत् का सब प्रकार से आकर्षण कर रहा है ॥ ४ ॥

ततो॑ वि॒राड॑जायत वि॒राजो॒ अधि॒ पूरु॑षः। स जा॒तो अत्य॑रिच्यत प॒श्चाद्भूमि॒मथो॑ पु॒रः ॥ ५ ॥

भाष्यम्

(ततो विराडजायत) ततस्तस्माद् ब्रह्माण्डशरीरः, सूर्य्यचन्द्रनेत्रो, वायुप्राणः, पृथिवीपाद इत्याद्यलङ्कारलक्षणलक्षितो,हि, सर्वशरीराणां समष्टिदेहो, विविधैः पदार्थै राजमानः सन्, विराट्, अजायतोत्पन्नोस्ति। (विराजो अधिपूरुषः) तस्माद्विराजोऽधि उपरि पश्चाद् ब्रह्माण्डतत्त्वावयवैः पुरुषः सर्वप्राणिनां जीवाधिकरणो देहः, पृथक् २ अजायतोत्पन्नोभूत्। (स जातो अ०) स देहो ब्रह्माण्डावयवैरेव वर्धते, नष्टः संस्तस्मिन्नेव प्रलीयत इति, परमेश्वरस्तु सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽत्यरिच्यतातिरिक्तः पृथग्भूतोस्ति। (पश्चाद्भूमिमथो पुरः) पुरः पूर्वं भूमिमुत्पाद्य धारितवांस्ततः पुरुषस्य सामर्थ्यात्स जीवोपि देहं धारितवानस्ति। स च पुरुषः परमात्मा ततस्तस्माज्जीवादप्यत्यरिच्यत पृथग्भूतोस्ति ॥ ५ ॥

भाषार्थ

(ततो विराडजायत) विराट् जिस का ब्रह्माण्ड के अलङ्कार से वर्णन किया है, जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिस को मूलप्रकृति कहते हैं, जिस का शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिसके सूर्य्य चन्द्रमा नेत्रस्थानी हैं, वायु जिस का प्राण और पृथिवी जिस का पग है, इत्यादि लक्षण वाला जो यह आकाश है सो विराट्

कहाता है। वह प्रथम कलारूप परमेश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न होके प्रकाशमान हो रहा है। (विराजो अधि०) उस विराट् के तत्त्वों के पूर्वभागों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक् २ उत्पन्न हुआ है। जिस में सब जीव वास करते हैं और जो देह उसी पृथिवी आदि के अवयव अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है, (स जातो अत्यरिच्यत) सो विराट् परमेश्वर से अलग और परमेश्वर भी इस संसाररूप देह से सदा अलग रहता है। (पश्चाद्भूमिमथो पुरः) फिर भूमि आदि जगत् को प्रथम उत्पन्न करके पश्चात् जो धारण कर रहा है ॥ ५ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्। पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ ६ ॥

भाष्यम्

(तस्माद्य०) अस्यार्थो वेदोत्पत्तिप्रकरणे कश्चिदुक्तः। तस्मात्परमेश्वरात् (संभृतं पृषदाज्यम्) पृषु सेचने धातुः, पर्षन्ति सिञ्चन्ति त्तुन्निवृत्यादिकारकमन्नादि वस्तु यस्मिंस्तत्पृषत्। आज्यं घृतं मधु दुग्धादिकं च। पृषदिति भक्ष्यान्नोपलक्षणम् *। आज्यमिति व्यञ्जनोपलक्षणम्। यावद्वस्तु जगति वर्त्तते तावत्सर्वं पुरुषात्परमेश्वरसामर्थ्यादेव जातमिति बोध्यम्। तत्सर्वमीश्वरेण स्वल्पं २ जीवैश्च सम्यग्धारितमस्ति। अतः सर्वैरनन्यचित्तेनायं परमेश्वर एवोपास्यो नान्यश्चेति। (पशूंस्तांश्चक्रे०) य आरण्या वनस्थाः पशवो, ये च ग्राम्या ग्रामस्थास्तान्सर्वान् स एव चक्रे कृतवानस्ति। स च परमेश्वरो वायव्यान् वायुसहचारितान् पक्षिणश्चक्रे, चकारादन्यान्सूक्ष्मदेहधारिणः कीटपतङ्गादीनपि कृतवानस्ति ॥६॥

भाषार्थ

(तस्माद्यज्ञात्स०) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्तिप्रकरण में कुछ कर दिया है। पूर्वोक्त पुरुष से ही (संभृतं पृषदाज्यम्) सब भोजन, वस्त्र, अन्न, जल आदि पदार्थों को सब मनुष्य लोगों ने धारण अर्थात् प्राप्त किया है, क्योंकि उसी के सामर्थ्य से ये सब पदार्थ उत्पन्न हुए और उन्हीं से सब का जीवन भी होता है। इस से सब मनुष्य लोगों को उचित है कि उस को छोड़ के किसी दूसरे की उपासना न करें। (पशूँस्तांश्चक्रे०) ग्राम और वन के सब पशुओं को भी उसी ने उत्पन्न किया है,

* पृषदिति क्वचिदन्येऽष्टिसामग्र्या अपि नामास्ति।

तथा सब पक्षियों को भी बनाया है और भी सूक्ष्मदेहधारी कीट, पतङ्ग आदि सब जीवों के देह भी उसी ने उत्पन्न किये हैं ॥ ६ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ७ ॥

भाष्यम्

अस्यार्थ उक्तो वेदोत्पत्तिप्रकरणे ॥ ७ ॥

भाषार्थ

(तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्ति विषय में कर दिया है ॥७॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः । गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ ८ ॥

भाष्यम्

(तस्मादश्वा०) तस्मात्परमेश्वरसामर्थ्यादेवाश्वास्तुरङ्गा अजायन्त । ग्राम्यारण्यपशूनां मध्येऽश्वादीनामन्तर्भावादेषामुत्तमगुणत्वप्रकाशनार्थोऽयमारम्भः, (ये केचोभयादतः) उभयतो दन्ता येषां त उभयादतो, ये केचिदुभयादत उष्ट्रगर्दभादयस्तेऽप्यजायन्त । (गावो ह ज०) तथा तस्मात्पुरुषसामर्थ्यादेव गावो धेनवः किरणाश्चेन्द्रियाणि च जज्ञिरे जातानि । (तस्माज्जाता अजा०) एवमेव चाजाश्छागा अवयश्च जाता उत्पन्ना इति विज्ञेयम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ

(तस्मादश्वा अजायन्त) उसी पुरुष के सामर्थ्य से अश्व अर्थात् घोड़े और बिजुली आदि सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं । (ये केचोभयादतः) जिनके मुख में दोनों ओर दांत होते हैं उन पशुओं को 'उभयादत' कहते हैं । वे ऊंट गधा आदि उसी से उत्पन्न हुए हैं । (गावो ह ज०) उसी से गोजाति अर्थात् गाय, पृथिवी, किरण और इन्द्रिय उत्पन्न हुई हैं । (तस्माज्जाता अ०) इसी प्रकार छेरी और भेड़ें भी उसी कारण से उत्पन्न हुई हैं ॥ ८ ॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः । तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ९ ॥

भाष्यम्

(तं यज्ञं ब०) यमग्रतो जातं प्रादुर्भूतं जगत्कर्तारं, पुरुषं पूर्णं, यज्ञं सर्वपूज्यं, परमेश्वरं, बर्हिषि हृदयान्तरिक्षे, प्रौक्षन्प्रकृष्टतया यस्यैवाभिषेकं कृतवन्तः,

कुर्वन्ति, करिष्यन्ति चेत्युपदिश्यत ईश्वरेण; (तेन देवा०) तेन परमेश्वरेण पुरुषेण वेदद्वारोपदिष्टास्ते सर्वे देवा विद्वांसः, साध्या ज्ञानिन, ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च, ये चान्ये मनुष्यास्तं परमेश्वरमयजन्तापूजयन्त । अनेन किं सिद्धं, सर्वे मनुष्याः परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनापुरःसरमेव सर्वकर्मानुष्ठानं कुर्य्युरित्यर्थः ॥ ९ ॥

भाषार्थ

(तं यज्ञं बर्हि०) जो सब से प्रथम प्रकट था, जो सब जगत् का बनाने वाला है, और सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, उस यज्ञ अर्थात् पूजने के योग्य परमेश्वर को जो मनुष्य हृदयरूप आकाश में अच्छे प्रकार से प्रेमभक्ति सत्य आचरण करके पूजन करता है वही उत्तम मनुष्य है । ईश्वर का यह उपदेश सब के लिये है । (तेन देवा अयजन्त सा०) उसी परमेश्वर के वेदोक्त उपदेशों से (देवाः) जो विद्वान्, (साध्याः) जो ज्ञानी लोग, (ऋषयश्च ये) ऋषि लोग जो वेदमन्त्रों के अर्थ जानने वाले और अन्य भी मनुष्य जो परमेश्वर के सत्कारपूर्वक सब उत्तम ही काम करते हैं वे ही सुखी होते हैं, क्योंकि सब श्रेष्ठ कर्मों के करने के पूर्व ही उस का स्मरण और प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये और दुष्ट कर्म करना तो किसी को उचित ही नहीं ॥ ९ ॥

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् । मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥ १० ॥

भाष्यम्

(यत्पुरुषं व्य०) यद्यस्मादेतं पूर्वोक्तलक्षणं पुरुषं परमेश्वरं कतिधा कियत्प्रकारैः (व्यकल्पयन्) तस्य सामर्थ्यगुणकल्पनं कुर्वन्तीत्यर्थः । (व्यदधुः) तं सर्वशक्तिमन्तमीश्वरं विविधसामर्थ्यकथनेनादधुरर्थादनेकविधं तस्य व्याख्यानं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च । (मुखं किं०) अस्य पुरुषस्य मुखं मुख्यगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत् ? (किं बाहू) बलवीर्य्यादिगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत् ? (किमूरू) व्यापारादिमध्यमैर्गुणैः किमुत्पन्नमासीत् ? (पादा उच्येते) पादावर्थान्मूर्खत्वादिनीचगुणैः किमुत्पन्नं वर्त्तते ? । अस्योत्तरमाह ॥ १० ॥

भाषार्थ

(यत्पुरुषं०) पुरुष उस को कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान ईश्वर कहाता है । (कतिधा व्य०) जिस के सामर्थ्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि उस में चित्र विचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है । अनेक कल्पनाओं से जिस का

कथन करते हैं । (मुखं किमस्यासीत्) इस पुरुष के मुख अर्थात् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पन्न हुआ है ? । (किं बाहू) बल, वीर्य्य, शूरता और युद्ध आदि विद्यागुणों से इस संसार में कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ है । (किमूरू) व्यापार आदि मध्यम गुणों से किस की उत्पत्ति हुई है ? । (पादा उच्येते) मूर्खपन आदि नीच गुणों से किस की उत्पत्ति होती है ? । इन चारों प्रश्न के उत्तर ये हैं कि ॥ १० ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬशूद्रो अजायत ॥ ११ ॥

भाष्यम्

(ब्राह्मणोऽस्य०) अस्य पुरुषस्य मुखं ये विद्यादयो मुख्यगुणाः, सत्यभाषणोपदेशादीनि कर्म्माणि च सन्ति तेभ्यो ब्राह्मण आसीदुत्पन्नो भवतीति । (बाहू राजन्यः कृतः) बलवीर्य्यादिलक्षणान्वितो राजन्यः क्षत्रियस्तेन कृत आज्ञप्त आसीदुत्पन्नो* भवति । (ऊरू तदस्य०) कृषिव्यापारादयो गुणा मध्यमास्तेभ्यो वैश्यो वणिग्जनोऽस्य पुरुषस्योपदेशादुत्पन्नो भवतीति वेद्यम् । (पद्भ्याᳬ शूद्रो०) पद्भ्यां पादेन्द्रियनीचत्वमर्थाज्जड़बुद्धित्वादिगुणेभ्यः शूद्रः सेवागुणविशिष्टः पराधीनतया प्रवर्त्तमानोऽजायत जायत इति वेद्यम् । अस्योपरि प्रमाणानि वर्णाश्रमप्रकरणे वक्ष्यन्ते । छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ॥ १ ॥ अष्टाध्या० अ० ३ । पा० ४ । सू० ६ ॥ इति सूत्रेण सामान्यकाले त्रयो लकारा विधीयन्ते ॥ ११ ॥

भाषार्थ

(ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या, सत्यभाषणादि उत्तम गुण और श्रेष्ठ कर्मों से ब्राह्मणवर्ण उत्पन्न होता है, वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है । (बाहू राजन्यः कृतः) और ईश्वर ने बल, पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है । (ऊरू तदस्य०) खेती, व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से वैश्यवर्ण सिद्ध होता है । (पद्भ्याᳬ शूद्रो०) जैसे पग सब से नीच अङ्ग है, वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है । इस विषय के प्रमाण वर्णाश्रम की व्याख्या में लिखेंगे ॥ ११ ॥

* आसीदुत्पन्नो भवतीत्यस्य स्थाने "आसीदास्ते" इति हस्तलिखितभूमिकायां पाठः ।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्य्यो अजायत। श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥

भाष्यम्

(चन्द्रमा मनसो०) तस्यास्य पुरुषस्य मनसो मननशीलात्सामर्थ्याच्चन्द्रमा जात उत्पन्नोस्ति । तथा चक्षोर्ज्योतिर्मयात्सूर्य्यो अजायत उत्पन्नोस्ति । (श्रोत्राद्वा०) श्रोत्राकाशमयादाकाशो नभ उत्पन्नमस्ति । वायुमयाद्वायुरुत्पन्नोस्ति, प्राणश्च, सर्वेन्द्रियाणि चोत्पन्नानि सन्ति । मुखान्मुख्यज्योतिर्मयादग्निरजायतोत्पन्नोस्ति ॥ १२ ॥

भाषार्थ

(चन्द्रमा०) उस पुरुष के मनन अर्थात् ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा और तेजस्वरूप से सूर्य्य उत्पन्न हुआ है । (श्रोत्राद्वा०) श्रोत्र अर्थात् अवकाशरूप सामर्थ्य से आकाश और वायुरूप सामर्थ्य से वायु उत्पन्न हुआ है । तथा सब इन्द्रियां भी अपने २ कारण से उत्पन्न हुई हैं और मुख्य ज्योतिरूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ है ॥ १२ ॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षꣳ शीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत । पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ २॥ अकल्पयन् ॥ १३ ॥

भाष्यम्

(नाभ्या०) अस्य पुरुषस्य नाभ्या अवकाशमयात्सामर्थ्यादन्तरिक्षमुत्पन्नमासीत् । एवं शीर्ष्णः शिरोवदुत्तमसामर्थ्यात्प्रकाशमयात् (द्यौः) सूर्य्यादिलोकः प्रकाशात्मकः समवर्त्तत सम्यगुत्पन्नः सन् वर्त्तते । (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवीकारणमयात्सामर्थ्यात्परमेश्वरेण भूमिर्धरणिरुत्पादितास्ति, जलं च । (दिशः श्रो०) शब्दाकाशकारणमयात्तेन दिश उत्पादिताः सन्ति । (तथा लोकाँ २ ॥ अकल्पयन्) तथा तेनैव प्रकारेण सर्वलोककारणमयात्सामर्थ्यादन्यान्सर्वान् लोकांस्तत्रस्थान् स्थावरजङ्गमान्पदार्थानकल्पयत्परमेश्वर उत्पादितवानस्ति ॥ १३ ॥

भाषार्थ

(नाभ्या आसीदन्त०) इस पुरुष के अत्यन्त सूक्ष्म सामर्थ्य से अन्तरिक्ष अर्थात् जो भूमि और सूर्य्य आदि लोकों के बीच में पोल है सो भी नियत किया हुआ है । (शीर्ष्णो द्यौः०) और जिसके सर्वोत्तम सामर्थ्य से सब लोकों के प्रकाश

करने वाले सूर्य्य आदि लोक उत्पन्न हुए हैं। (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवी के परमाणु कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने पृथिवी उत्पन्न की है। तथा जल को भी उसके कारण से उत्पन्न किया है। (दिशः श्रोत्रात्) उसने श्रोत्ररूप सामर्थ्य से दिशाओं को उत्पन्न किया है।(तथा लोकां२॥ अकल्पयन्) इसी प्रकार सब लोकों के कारण-रूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने सब लोक और उन में वसने वाले सब पदार्थों को उत्पन्न किया है ॥ १३ ॥

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत । वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ १४ ॥

भाष्यम्

(यत्पुरुषेण०) देवा विद्वांसः पूर्वोक्तेन पुरुषेण हविषा गृहीतेन दत्तेन चाग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं शिल्पविद्यामयं च यद्यं यज्ञं प्रकाशितमतन्वत विस्तृतं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च । इदानीं जगदुत्पत्तौ कालस्यावयवाख्या सामग्र्युच्यते, (वसन्तो०) अस्य यज्ञस्य पुरुषादुत्पन्नस्य वा ब्रह्माण्डमयस्य वसन्त आज्यं घृतवदस्ति । (ग्रीष्म इध्मः) ग्रीष्मर्त्तुरिध्म इन्धनीन्यग्निर्वास्ति । (शरद्धविः) शरदृतुः पुरोडाशादिवद्धविर्हवनीयमस्ति ॥ १४ ॥

भाषार्थ

(यत्पुरुषेण०) देव अर्थात् जो विद्वान् लोग होते हैं उनको भी ईश्वर ने अपने अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न किया है, और वे ईश्वर के दिये पदार्थों का ग्रहण करके पूर्वोक्त यज्ञ का विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं, और जो ब्रह्माण्ड का रचन, पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है उसी को जगत् बनाने की सामग्री कहते हैं।(वसन्तो०) पुरुष ने उत्पन्न किया जो यह ब्रह्माण्डरूप यज्ञ है इस में वसन्तऋतु अर्थात् चैत्र और वैशाख घृत के समान है। (ग्रीष्म इध्मः) ग्रीष्मऋतु जो ज्येष्ठ और आषाढ़, इन्धन है। श्रावण और भाद्रपद वर्षा ऋतु। आश्विन और कार्त्तिक शरद् ऋतु। मार्गशीर्ष और पौष हिम ऋतु और माघ तथा फाल्गुन शिशिर ऋतु कहाती है। यह इस यज्ञ में आहुति है। सो यहां रूपकालङ्कार से सब ब्रह्माण्ड का व्याख्यान जानना चाहिये ॥१४॥

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः। देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

भाष्यम्

(सप्तास्या०) अस्य ब्रह्माण्डस्य सप्त परिधयः सन्ति । परिधिर्हि गोलस्योपरिभागस्य यावता सूत्रेण परिवेष्टनं भवति स परिधिर्ज्ञेयः । अस्य ब्रह्माण्डस्य ब्रह्माण्डान्तर्गतलोकानां वा सप्त सप्त परिधयो भवन्ति । समुद्र एकस्तदुपरि त्रसरेणुसहितो वायुर्द्वितीयः । मेघमण्डलं तत्रस्थो वायुस्तृतीयः । वृष्टिजलं चतुर्थस्तदुपरिवायुः पञ्चमः । अत्यन्तसूक्ष्मो धनञ्जयष्षष्ठः । सूत्रात्मा सर्वत्र व्याप्तः सप्तमश्च । एवमेकैकस्योपरि सप्त सप्तावरणानि स्थितानि सन्ति, तस्मात्ते परिधयो विज्ञेयाः । (त्रिः सप्त समिधः कृताः) एकविंशतिः पदार्थाः सामग्र्यस्य चास्ति। प्रकृतिर्महत्, बुद्ध्याद्यन्तःकरणं, जीवश्चैषैका सामग्री परमसूक्ष्मत्वात् । दशेन्द्रियाणि श्रोत्रं, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका, वाक्, पादौ, हस्तौ, पायुः, उपस्थं चेति । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः, पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति पञ्चभूतानि च मिलित्वा दश भवन्ति । एवं सर्वा मिलित्वैकविंशतिर्भवन्त्यस्य ब्रह्माण्डरचनस्य समिधः कारणानि विज्ञेयानि । एतेषामवयवरूपाणि तु तत्त्वानि बहूनि सन्तीति बोध्यम् । (देवा य०) तदिदं येन पुरुषेण रचितं तं यज्ञपुरुषं पशुं सर्वद्रष्टारं सर्वैः पूजनीयं देवा विद्वांसः (अबध्नन्) ध्यानेन बध्नन्ति, तं विहायेश्वरत्वेन कस्यापि ध्यानं नैव बध्नन्ति नैव कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

भाषार्थ

(सप्तास्या०) ईश्वर ने एक २ लोक के चारों ओर सात २ परिधि ऊपर २ रची है । जो गोल चीज़ के चारों ओर एक सूत से नाप के जितना परिमाण होता है उसको परिधि कहते हैं । सो जितने ब्रह्माण्ड में लोक हैं ईश्वर ने उन एक २ के ऊपर सात २ आवरण बनाये । एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघमण्डल का वायु, चौथा वृष्टिजल और पांचवां वृष्टिजल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छठा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिसको धनञ्जय कहते हैं, सातवां सूत्रात्मा वायु जो कि धनञ्जय से भी सूक्ष्म है, ये सात परिधि कहाते हैं । (त्रिः सप्त समिधः) और इस ब्रह्माण्ड की सामग्री (२१) इक्कीस प्रकार की कहाती है । जिसमें से एक प्रकृति, बुद्धि और जीव ये तीनों मिलके हैं, क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है । दूसरा श्रोत्र । तीसरी त्वचा । चौथा नेत्र । पांचमी जिह्वा । छठी नासिका । सातमी वाक् । आठमा पग । नवमा हाथ । दशमी गुदा । ग्यारहमा उपस्थ । जिसको लिङ्ग इन्द्रिय कहते हैं ।

बारहमा शब्द । तेरहमा स्पर्श । चौदहमा रूप । पन्द्रहमा रस । सोलहमा गन्ध । सत्रहमी पृथिवी । अठारहमा जल । उन्नीसमा अग्नि । बीसमा वायु । इक्कीसमा आकाश । ये इक्कीस समिधा कहाती हैं । (देवा य०) जो परमेश्वर पुरुष इस सब जगत् का रचने वाला, सब का देखने वाला और पूज्य है उसको विद्वान् लोग सुन के और उसी के उपदेश से उसी के कर्म और गुणों का कथन, प्रकाश और ध्यान करते हैं । उसको छोड़ के दूसरे को ईश्वर किसी ने नहीं माना और उसी के ध्यान में अपने आत्माओं को दृढ़ बांधने से कल्याण जानते हैं ॥ १५ ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥

भाष्यम्

(यज्ञेन यज्ञम०) ये विद्वांसो, यज्ञं यजनीयं पूजनीयं परमेश्वरं, यज्ञेन, तत्स्तुतिप्रार्थनोपासनरीत्या पूजनेन, तमेवायजन्त, यजन्ते, यक्ष्यन्ति च । तान्येव धर्माणि प्रथमानि सर्वकर्मभ्य आदौ सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यान्यासन् । न च तैः पूर्वं कृतैर्विना केनापि किंचित्कर्म कर्त्तव्यमिति । (ते ह ना०) त ईश्वरोपासका, हेति, प्रसिद्धं नाकं सर्वदुःखरहितं परमेश्वरं, मोक्षं च, महिमानः पूज्याः सन्तः, सचन्त समवेता भवन्ति । कीदृशं तत् ? (यत्र पूर्वे साध्याः०) साध्याः साधनवन्तः कृतसाधनाश्च देवा विद्वांसः पूर्वे अतीता यत्र मोक्षाख्ये परमे पदे सुखिनः सन्ति । न तस्माद् ब्रह्मणश्शतवर्षसंख्यातात् कालात् कदाचित्पुनरावर्तन्त इति किन्तु तमेव समसेवन्त ॥ अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्य्याः । यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, अग्निनाग्निमयजन्त देवाः, "अग्निः पशुरासीत्तमालभन्त तेनायजन्ते"ति च ब्राह्मणम् । 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।' ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः । द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः ॥ नि० अ० १२ । खं० ४१ ॥ अग्निना जीवेनान्तःकरणेन वाग्निं परमेश्वरमयजन्त । अग्निः पशुरासीत्तमेव देवा आलभन्त । सर्वोपकारकमग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं भौतिकाग्निनापि यज्ञं देवा समसेवन्तेति वा । साध्याः साधनवन्तो यत्र पूर्वे पूर्वं भूता मोक्षाख्यानन्दे पदे सन्ति । तमभिप्रेत्यात एव द्युस्थानो देवगण इति निरुक्तकारा वदन्ति । द्युस्थानः प्रकाशमयः परमेश्वरः स्थानं स्थित्यर्थं यस्य सः । यद्वा सूर्य्यप्राणस्थानाः विज्ञानकिरणास्तत्रैव देवगणो देवसमूहो वर्त्तत इति ॥ १६ ॥

भाषार्थ

(यज्ञेन यज्ञम०) विद्वानों को देव कहते हैं और वे सब के पूज्य होते हैं, क्योंकि वे सब दिन परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना, उपासना और आज्ञापालन आदि विधान से पूजा करते हैं। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि वेदमन्त्रों से प्रथम ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना करके शुभकर्मों का आरम्भ करें। (ते ह नाकं०) जो २ ईश्वर की उपासना करनेवाले लोग हैं वे २ सब दुःखों से छूट के सब मनुष्यों में अत्यन्त पूज्य होते हैं। (यत्र पूर्वे सा०) जहां विद्वान् लोग परमपुरुषार्थ से जिस पद को प्राप्त होके नित्य आनन्द में रहते हैं उसी को मोक्ष कहते हैं। क्योंकि उससे निवृत्त होके संसार के दुःखों में कभी नहीं गिरते। इस अर्थ में निरुक्तकार का भी यही अभिप्राय है कि जो परमेश्वर के अनन्त प्रकाश में मोक्ष को प्राप्त हुये हैं वे परमेश्वर ही के प्रकाश में सदा रहते हैं, उनको अज्ञानरूप अन्धकार कभी नहीं होता ॥ १६ ॥

अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे। तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥ १७ ॥

भाष्यम्

(अद्भ्यः संभृतः०) तेन पुरुषेण पृथिव्यै पृथिव्युत्पत्त्यर्थमद्भ्यो रसः संभृतः संगृह्य तेन पृथिवी रचिता। एवमग्निरसेनाग्नेः सकाशादाप उत्पादिताः। अग्निश्च वायोः सकाशाद्वायुराकाशादुत्पादित, आकाशः प्रकृतेः, प्रकृतिः स्वसामर्थ्याच्च। विश्वं सर्वं कर्म क्रियमाणमस्य स विश्वकर्मा। तस्य परमेश्वरस्य सामर्थ्यमध्ये कारणाख्येऽग्रे सृष्टेः प्राग्जगत्समवर्त्तत वर्त्तमानमासीत्। तदानीं सर्वमिदं जगत्कारणभूतमेव नेदृशमिति। तस्य सामर्थ्यस्यांशान् गृहीत्वा त्वष्टा रचनकर्त्तेदं सकलं जगद्विदधत्। पुनश्चेदं विश्वं रूपवत्त्वमेति। तदेव मर्त्यस्य मरणधर्मकस्य विश्वस्य मनुष्यस्यापि च रूपवत्त्वं भवति। (आजानमग्रे) वेदाज्ञापनसमये परमात्माज्ञप्तवान्, वेदरूपामाज्ञां दत्तवान् मनुष्याय। धर्मयुक्तेनैव, सकामेन कर्मणा, कर्मदेवत्वयुक्तं शरीरं धृत्वा, विषयेन्द्रियसंयोगजन्यमिष्टं सुखं भवतु, तथा निष्कामेन विज्ञानपरमं मोक्षाख्यं चेति ॥ १७ ॥

भाषार्थ

(अद्भ्यः संभृतः०) उस परमेश्वर पुरुष ने पृथिवी की उत्पत्ति के लिये जल से सारांश रस को ग्रहण करके पृथिवी और अग्नि के परमाणुओं को मिला के पृथिवी

रची है। इसी प्रकार अग्नि के परमाणु के साथ जल के परमाणुओं को मिला के जल को, वायु के परमाणुओं के साथ अग्नि के परमाणुओं को मिला के अग्नि को और वायु के परमाणुओं से वायु को रचा है। वैसे ही अपने सामर्थ्य से आकाश को भी रचा है जो कि सब तत्त्वों के ठहरने का स्थान है। ईश्वर ने प्रकृति से लेके घास पर्यन्त जगत् को रचा है। इससे ये सब पदार्थ ईश्वर के रचे होने से उसका नाम विश्वकर्मा है। जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था तब वह ईश्वर के सामर्थ्य में कारणरूप से वर्त्तमान था। (तस्य०) जब २ ईश्वर अपने सामर्थ्य से इस कार्य्यरूप जगत् को रचता है तब २ कार्य्य जगत् रूप गुणवाला होके स्थूल बन के देखने में आता है। (तन्मर्त्यस्य देवत्व०) जब परमेश्वर ने मनुष्यशरीर आदि को रचा है तब मनुष्य भी दिव्य कर्म करके देव कहाते हैं और जब ईश्वर की उपासना से विद्या, विज्ञान आदि अत्युत्तम गुणों को प्राप्त होते हैं तब भी उन मनुष्यों का नाम देव होता है, क्योंकि कर्म से उपासना और ज्ञान उत्तम हैं। इसमें ईश्वर की यह आज्ञा है कि जो मनुष्य उत्तम कर्म में शरीर आदि पदार्थों को चलाता है वह संसार में उत्तम सुख पाता है और जो परमेश्वर ही की प्राप्तिरूप मोक्ष की इच्छा करके उत्तम कर्म, उपासना और ज्ञान में पुरुषार्थ करता है वह उत्तम देव होता है ॥ १७ ॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १८ ॥

भाष्यम्

(वेदाहमेतं पु०) किं विदित्वा त्वं ज्ञानी भवसीति पृच्छ्यते ? तदुत्तरमाह— यतः पूर्वोक्तलक्षणविशिष्टं, सर्वेभ्यो महान्तं, वृद्धतममादित्यवर्णं, स्वप्रकाशविज्ञानस्वरूपं, तमसोऽज्ञानाऽविद्यान्धकारात्परस्तात्पृथग् वर्त्तमानं परमेश्वरं पुरुषमहं वेद जानाम्यतोऽहं ज्ञान्यस्मीति निश्चयः। नैव तमविदित्वा कश्चिज्ज्ञानी भवितुमर्हतीति। कुतः। (तमेव विदित्वा०) मनुष्यस्तमेव पुरुषं परमात्मानं विदित्वाऽतिमृत्युं मृत्युमतिक्रान्तं मृत्योः पृथग्भूतं मोक्षाख्यमानन्दमेति प्राप्नोति। नैवातोऽन्यथेति। एवकारात्तमीश्वरं विहाय नैव कस्यचिदन्यस्य लेशमात्राप्युपासना केनचित्कदाचित्कार्य्येति गम्यते। कथमिदं विज्ञायतेऽन्यस्योपासना नैव कार्य्येति ? (नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय) इति वचनात्। अयनाय व्यावहारिकपारमार्थिकसुखायाऽन्यो द्वितीयः पन्था मार्गो न विद्यते। किन्तु तस्यैवोपासनमेव सुखस्य

मार्गोऽतो भिन्नस्येश्वरगणनोपासनाभ्यां मनुष्यस्य दुःखमेव भवतीति निश्चयः। अतः कारणादेष एव पुरुषः सर्वैरुपासनीय इति सिद्धान्तः ॥ १८ ॥

भाषार्थ

(वेदाहमेतं) प्र०—किस पदार्थ को जान के मनुष्य ज्ञानी होता है ? उ०—उस पूर्वोक्त लक्षण सहित परमेश्वर ही को यथावत् जान के ठीक २ ज्ञानी होता है, अन्यथा नहीं। जो सब से बड़ा, सब का प्रकाश करनेवाला और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञान आदि दोषों से अलग है, उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव जानता हूं। उस को जाने विना कोई मनुष्य यथावत् ज्ञानवान् नहीं हो सकता, क्योंकि (तमेव विदित्वा०) उसी परमात्मा को जान के और प्राप्त होके जन्म, मरण आदि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूट के परमानन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है। अन्यथा किसी प्रकार से मोक्षसुख नहीं हो सकता। इससे क्या सिद्ध हुआ कि उसी की उपासना सब मनुष्य लोगों को करनी उचित है। उससे भिन्न की उपासना करना किसी मनुष्य को न चाहिये, क्योंकि मोक्ष का देनेवाला एक परमेश्वर के विना दूसरा कोई भी नहीं है। इस में यह प्रमाण है कि (नान्यः पन्था०) व्यवहार और परमार्थ के दोनों सुख का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उस का जानना ही है, क्योंकि इस के विना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ १९ ॥

भाष्यम्

(प्रजापति०) स एव प्रजापतिः सर्वस्य स्वामी, जीवस्यान्यस्य च जड़स्य जगतोऽन्तर्गर्भे मध्येऽन्तर्य्यामिरूपेणाजायमानोऽनुत्पन्नोऽजः सन् नित्यं चरति। तत्सामर्थ्यादेवेदं सकलं जगद् बहुधा बहुप्रकारं विजायते विशिष्टतयोत्पद्यते। (तस्य योनिं०) तस्य परब्रह्मणो योनिं सत्यधर्मानुष्ठानं वेदविज्ञानमेव प्राप्तिकारणं धीरा ध्यानवन्तः (परिप०) परितः सर्वतः प्रेक्षन्ते। (तस्मिन्ह तस्थुर्भु०) यस्मिन्भुवनानि विश्वानि सर्वाणि सर्वे लोकास्तस्थुः स्थितिं चक्रिरे। हेति निश्चयार्थे। तस्मिन्नेव परमे पुरुषे धीरा ज्ञानिनो मनुष्या मोक्षानन्दं प्राप्य तस्थुः स्थिरा भवन्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

भाषार्थ

(प्रजापति०) जो प्रजा का पति अर्थात् सब जगत् का स्वामी है वही जड़ और चेतन के भीतर और बाहर अन्तर्यामिरूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है । जो सब जगत् को उत्पन्न करके अपने आप सदा अजन्मा रहता है. (तस्य योनिं०) जो उस परब्रह्म की प्राप्ति का कारण, सत्य का आचरण और सत्यविद्या है, उसको विद्वान् लोग ध्यान से देख के परमेश्वर को सब प्रकार से प्राप्त होते हैं । (तस्मिन्ह त०) जिस में ये सब भुवन अर्थात् लोक ठहर रहे हैं, उसी परमेश्वर में ज्ञानी लोग भी सत्य निश्चय से मोक्षसुख को प्राप्त होके, जन्म मरण आदि आने जाने से छूट के, आनन्द में सदा रहते हैं ॥ १९ ॥

यो दे॒वेभ्य॒ आ॒तप॑ति॒ यो दे॒वानां॒ पु॒रोहि॑तः । पूर्वो॒ यो दे॒वेभ्यो॒ जा॒तो नमो॑ रु॒चाय॒ ब्राह्म॑ये ॥ २० ॥

भाष्यम्

(यो देवेभ्य०) यः पूर्णः पुरुषो देवेभ्यो विद्वद्भ्यस्तत्प्रकाशार्थमातपति आसमन्तात्तदन्तःकरणे प्रकाशयति, नान्येभ्यश्च । यश्च देवानां विदुषां पुरोहितः सर्वैः सुखैः सह मोक्षे विदुषो दधाति । (पूर्वो यो देवेभ्यो जातो०) देवेभ्यो विद्वद्भ्यो यः पूर्वः पूर्वमेव सनातनत्वेन वर्त्तमानः सन् जातः प्रसिद्धोस्ति । (नमो रुचाय०) तस्मै रुचाय रुचिकराय ब्रह्मणे नमोस्तु । यश्च देवेभ्यो विद्वद्भ्यो ब्रह्मोपदेशं प्राप्य ब्रह्मरुचिर्ब्राह्मिर्ब्रह्मणोऽपत्यमिव वर्त्तमानोस्ति । तस्मा अपि ब्राह्मये ब्रह्मसेवकाय नमोस्तु ॥ २० ॥

भाषार्थ

(यो देवेभ्य०) जो परमात्मा विद्वानों के लिये सदा प्रकाशस्वरूप है, अर्थात् उन के आत्माओं को प्रकाश में कर देता और वही उन का पुरोहित, अर्थात् अत्यन्त सुखों से धारण और पोषण करनेवाला है, इससे वे फिर दुःखसागर में कभी नहीं गिरते । (पूर्वो यो देवेभ्यो जातो०) जो सब विद्वानों से आदि विद्वान और जो विद्वानों के ही ज्ञान से प्रसिद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष होता है, (नमो रुचाय०) उस अत्यन्त आनन्दस्वरूप और सत्य में रुचि करानेवाले ब्रह्म को हमारा नमस्कार हो, और जो विद्वानों से वेदविद्यादि को यथावत् पढ़ के धर्मात्मा अर्थात् ब्रह्म को पिता के समान मान के, सत्यभाव से प्रेम प्रीति करके, सेवा करनेवाला जो विद्वान् मनुष्य है, उसको भी हम लोग नमस्कार करते हैं ॥ २० ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन् । यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे ॥ २१ ॥

भाष्यम्

(रुचं ब्राह्मं०) रुचं प्रीतिकरं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यमिव ब्रह्मणः सकाशाज्जातं ज्ञानं जनयन्त उत्पादयन्तो देवा विद्वांसोऽन्येषामग्रे तज्ज्ञानं तज्ज्ञानसाधनं वाऽब्रुवन् ब्रुवन्तूपदिशन्तु च । (यस्त्वैवं०) यस्त्वैवममुना प्रकारेण तद्ब्रह्म ब्राह्मणो विद्यात्, (तु) पश्चात्तस्यैव ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्य देवा इन्द्रियाणि वशे असन् भवन्ति नान्यस्येति ॥ २१ ॥

भाषार्थ

(रुचं ब्राह्मं०) जो ब्रह्म का ज्ञान है वही अत्यन्त आनन्द करनेवाला और उस मनुष्य की उसमें रुचि का बढ़ाने वाला है । जिस ज्ञान को विद्वान् लोग अन्य मनुष्यों के आगे उपदेश करके उन को आनन्दित कर देते हैं । (यस्त्वैवं ब्राह्मणो०) जो मनुष्य इस प्रकार से ब्रह्म को जानता है उसी विद्वान् के सब मन आदि इन्द्रिय वश में हो जाते हैं, अन्य के नहीं ॥ २१ ॥

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम् । इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण ॥ २२ ॥ य० अ० ३१ ॥

भाष्यम्

(श्रीश्च ते०) हे परमेश्वर ! ते तव (श्रीः) सर्वा शोभा (लक्ष्मीः) शुभलक्षणवती धनादिश्च द्वे प्रिये पत्न्यौ पत्नीवत्सेवमाने स्तः । तथाहोरात्रे द्वे ते तव (पार्श्वे०) पार्श्ववत्स्तः । ये कालचक्रस्य कारणभूतस्यापि कक्षावयववद्वर्त्तेते सूर्य्याचन्द्रमसौ नेत्रे वा, तथैव नक्षत्राणि तवैव सामर्थ्यस्यादिकारणस्यावयवाः सन्ति, तत्त्वापि रूपवदस्ति । अश्विनौ द्यावापृथिव्या तवैव (व्यात्तम्) विकाशितं मुखमिव वर्त्तते । तथैव यत् किंचित्सौन्दर्यगुणयुक्तं वस्तु जगति वर्त्तते तदपि रूपं तवैव सामर्थ्याज्जातमिति जानीमः । हे विराडधिकरणेश्वर ! मे ममामुं परलोकं मोक्षाख्यं पदं कृपाकटाक्षेण (इष्णन्) इच्छन्सन् (इषाण) स्वेच्छया निष्पादय, तथा सर्वलोकं सर्वलोकसुखं सर्वलोकराज्यं वा मदर्थं कृपया त्वमिषाणेच्छ, स्वाराज्यं सिद्धं कुरु । एवमेव सर्वाः शोभा लक्ष्मीश्च शुभलक्षणवतीः सर्वाः क्रिया मे

मदर्थमिषाण, हे भगवन् ! पुरुष ! पूर्णपरमेश्वर ! सर्वशक्तिमन् ! कृपया सर्वान् शुभान् गुणान् मह्यं देहि । दुष्टानशुभदोषांश्च विनाशय, सद्यः स्वानुग्रहेण सर्वोत्तमगुणभाजनं मां भवान्करोत्विति ॥ अत्र प्रमाणानि ॥ श्रीर्हि पशवः ॥ श० कां० १ । अ० ८ ॥ श्रीर्वै सोमः ॥ श० कां० ४ । अ० १ ॥ श्रीर्वै राष्ट्रं श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः ॥ कां० १३ । अ० १ ॥ लक्ष्मीर्लाभाद्वा, लक्षणाद्वा, लप्स्यमानाद्वा, लाञ्छनाद्वा लषतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणो,* लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः, शिप्रे इत्युपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः ॥ नि० अ० ४ । खं० १० ॥ अत्र श्रीलक्ष्म्योः पूर्वोक्तयोरर्थसंगतिरस्तीति बोध्यम् ॥ २ ॥

इति पुरुषसूक्तव्याख्या समाप्ता

भाषार्थ

(श्रीश्च ते) हे परमेश्वर ! जो आप की अनन्त शोभारूप श्री और जो अनन्त शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मी है वे दोनों स्त्री के समान हैं अर्थात् जैसे स्त्री पति की सेवा करती है इसी प्रकार आप की सेवा आप ही को प्राप्त होती है, क्योंकि आपने ही सब जगत् को शोभा और शुभलक्षणों से युक्त कर रक्खा है । परन्तु ये सब शोभा और सत्यभाषणादि धर्म के लक्षणों से लाभ, ये दोनों आपकी ही सेवा के लिये हैं । सब पदार्थ ईश्वर के आधीन होने से उसके विषय में यह पत्नी शब्द रूपकालङ्कार से वर्णन किया है । वैसे ही जो दिन और रात्रि ये दोनों बगल के समान हैं । तथा सूर्य्य और चन्द्र भी दोनों आप के बगल के समान वा नेत्रस्थानी हैं । और जितने ये नक्षत्र हैं वे आप के रूपस्थानी हैं । और द्यौः जो सूर्य आदि का प्रकाश और विद्युत् अर्थात् बिजुली ये दोनों मुखस्थानी हैं । तथा ओठ के तुल्य और जैसा खुला मुख होता है इसी प्रकार पृथिवी और सूर्य्यलोक के बीच में जो पोल है सो मुख के सदृश है । (इष्णन्) हे परमेश्वर ! आप की दया से (अमुं) परलोक जो मोक्षसुख है उस को हम लोग प्राप्त होते हैं । इस प्रकार की कृपादृष्टि से हमारे लिये इच्छा करो तथा मैं सब संसार में सब गुणों से युक्त होके सब लोकों के सुखों का अधिकारी जैसे होऊं वैसी कृपा और इस जगत् में मुझ को सर्वोत्तम शोभा और लक्ष्मी से युक्त सदा कीजिये । यह आप से हमारी प्रार्थना है, सो आप कृपा से पूरी कीजिये ॥ २२ ॥

इति पुरुषसूक्तव्याख्या समाप्ता

* अत्र "लप्स्यतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मणो' इत्यधिकः पाठो निरुक्ते ।

यत्प॑र॒मम॑व॒मं यच्च॑ म॒ध्य॒मं प्र॒जाप॑तिः स॒सृजे वि॒श्वरू॑पम् । किय॑ता स्क॒म्भः प्र वि॑वेश॒ तत्र॒ यन्न प्रावि॑श॒त् किय॒त्तद्ब॑भूव ॥१॥ अथर्व० कां० १० । अनु० ४ । सू० ७ । मं० ८ ॥ दे॒वाः पि॒तरो॑ म॒नुष्या॑ गन्धर्वाप्स॒र॑सश्च॒ ये । उच्छि॒ष्टाज्ज॑ज्ञि॒रे सर्वे॑ दि॒वि दे॒वा दि॑वि॒श्रितः॑ ॥२॥ अथर्व० कां० ११ । अनु० ४ । सू० ७ । मं० २७ ॥

भाष्यम्

(यत्परम०) यत्परमं सर्वोत्कृष्टं प्रकृत्यादिकं जगत्, यच्च (अवमं) निकृष्टं तृणमृत्तिका क्षुद्रकृमिकीटादिकं चास्ति, (यच्च म०) यन्मनुष्यदेहाद्याकाशपर्य्यन्तं मध्यमं च, तत्त्रिविधं सर्वं जगत्, प्रजापतिरेव (ससृजे वि०) स्वसामर्थ्यरूपकारणादुत्पादितवानस्ति । योऽस्य जगतो विविधं रूपं सृष्टवानस्ति, (कियता०) * एतस्मिंस्त्रिविधे जगति स्कम्भः प्रजापतिः स परमेश्वरः, कियता सम्बन्धेन प्रविवेश, न चैतत् परमेश्वरे, (यन्न०) यत्त्रिविधं जगन्न प्राविशत्, तत् कियद्बभूव । तदिदं जगत् परमेश्वरापेक्षयाल्पमेवास्तीति ॥ १ ॥ (देवाः०) देवा विद्वांसः, सूर्य्यादयो लोकाश्च, पितरो ज्ञानिनः, मनुष्या मननशीलाः, गन्धर्वा गानविद्याविदः, सूर्य्यादयो वा, अप्सरस एतेषां स्त्रियश्च, ये चापि जगति मनुष्यादिजातिगणा वर्त्तन्ते ते सर्वे उच्छिष्टात्सर्वस्मादूर्ध्वं शिष्टात्परमेश्वरात्तत्सामर्थ्याच्च जज्ञिरे जाताः सन्ति । ये (दिवि देवाः दिविश्रिताः) दिवि देवाः सूर्य्यादयो लोकाः, ये च दिवि श्रिताश्चन्द्रपृथिव्यादयो लोकास्तेपि सर्वे तस्मादेवोत्पन्ना इति । इत्यादयो मन्त्रा एतद्विषया वेदेषु बहवः सन्ति ।

इति संक्षेपतः सृष्टिविद्याविषयः समाप्तः

भाषार्थ

(यत्परम०) जो उत्तम मध्यम और नीच स्वभाव से तीन प्रकार का जगत् है उस सब को परमेश्वर ने ही रचा है । उसने इस जगत् में नाना प्रकार की रचना की है । और एक वही इस सब रचना को यथावत् जानता है । और इस जगत् में जो कोई विद्वान् होते हैं वे भी कुछ २ परमेश्वर की रचना के गुणों को जानते हैं । वह परमेश्वर सब को रचता है और आप रचना में कभी नहीं आता ॥ १ ॥

---

* एतस्मिन्नित्यारभ्य कियद्बभूवेतिपर्यन्तसन्दर्भस्थाने "सृष्ट्वा, त्रिविधे जगति स्कम्भः प्रजापतिः परमेश्वरः स कियता सम्बन्धेन प्रविवेश, तत्र परमेश्वरे यत्त्रिविधं जगन्न प्राविशत्, तत्कियद्बभूवेति" हस्तलिखित भूमिकायां पाठः ।

(देवाः पितरो०) विद्वान् अर्थात् पण्डित लोग और सूर्य्यलोक भी, (ज्ञानिनः) अर्थात् यथार्थविद्या को जानने वाले, (मनुष्याः) अर्थात् विचार करने वाले, (गन्धर्वाः) अर्थात् गानविद्या के जानने वाले, सूर्य्यादि लोक और (अप्सरसः) अर्थात् इन सब की स्त्रियां, ये सब लोग और दूसरे लोग भी उसी ईश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं । (दिवि देवाः) अर्थात् जो प्रकाश करने वाले और प्रकाशस्वरूप सूर्य्यादि लोक और (दिविश्रिताः) अर्थात् चन्द्र और पृथिवी आदि प्रकाशरहित लोक वे भी उसी के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं ॥ २ ॥ वेदों में इस प्रकार के सृष्टिविधान करने वाले मन्त्र बहुत हैं, परन्तु ग्रन्थ अधिक न हो जाय इसलिये सृष्टिविषय संक्षेप से लिखा है ।

इति सृष्टिविद्याविषयः

अथ पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः

अथेदं विचार्य्यते पृथिव्यादयो लोका भ्रमन्त्याहोस्विन्नेति ? अत्रोच्यते । वेदादिशास्त्रोक्तरीत्या पृथिव्यादयो लोकाः सर्वे भ्रमन्त्येव । तत्र पृथिव्यादिभ्रमणविषये प्रमाणम् ।

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १ ॥ यजु० अ० ३ । मं० ६ ॥

भाष्यम्

अस्याभि०-आयं गौरित्यादिमन्त्रेषु पृथिव्यादयो हि सर्वे लोका भ्रमन्त्येवेति विज्ञेयम् । (आयं गौः०) अयं गौः पृथिवीगोलः, सूर्य्यश्चन्द्रोऽन्यो लोको वा, पृश्निमन्तरिक्षमाक्रमीदाक्रमणं कुर्वन् सन् गच्छतीति, तथाऽन्येपि । तत्र पृथिवी मातरं समुद्रजलमसदत् समुद्रजलं प्राप्ता सती, तथा (स्वः) सूर्य्यं पितरमाग्निमयं च । पुरः पूर्वं पूर्वं प्रयन्सन् सूर्य्यस्य परितो याति । एवमेव सूर्य्यो वायुं पितर,-माकाशं मातरं च । तथा चन्द्रोऽग्निं पितर,मपो मातरं प्रति चेति योजनीयम् । अत्र प्रमाणानि । गौः, ग्मा, ज्मेत्याद्येकविंशतिषु पृथिवीनामसु गौरिति पठितं, यास्ककृते निघण्टौ ॥ अ० १ । खं० १ ॥ तथाच, स्वः, पृश्निः, नाक इति षट्सु साधारणनामसु ॥ निघण्टु अ० १ । खं० ४ ॥ पृश्निरित्यन्तरिक्षस्य नामोक्तम् । निरुक्ते, गौरिति पृथिव्या नामधेयं, यद्दूरंगता

भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति ॥ निरु० अ० २ । खं० ५ ॥ गौरादित्यो भवति, गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे अथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधिदूरंगता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति ॥ निरु० अ० २ । खं० १४ ॥ सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमा-गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति, सोऽपि गौरुच्यते ॥ निरु० अ० २ । खं० ६ ॥ स्वरादित्यो भवति ॥ निरु० अ० २ । खं० १४ । गच्छति प्रतिक्षणं भ्रमति या सा गौः पृथिवी । अद्भ्यः पृथिवीति तैत्तिरीयोपनिषदि * । यस्माद्यज्जायते सोऽर्थ-स्तस्य मातापितृवद् भवति । तथा स्वःशब्देनादित्यस्य ग्रहणात् पितुर्विशेषणत्वा-दादित्योऽस्याः पितृवदिति निश्चीयते । यद्दूरंगता, दूरंदूरं सूर्य्याद्गच्छतीति विज्ञेयम् । एवमेव सर्वे लोकाः स्वस्य स्वस्य कक्षायां वाय्वात्मनेश्वरसत्तया च धारिताः सन्तो भ्रमन्तीति सिद्धान्तो बोध्यः ।

भाषार्थ

अब सृष्टिविद्याविषय के पश्चात् पृथिवी आदि लोक घूमते हैं वा नहीं, इस विषय में लिखा जाता है । इस में यह सिद्धान्त है कि वेदशास्त्रों के प्रमाण और युक्ति से भी पृथिवी और सूर्य्य आदि सब लोक घूमते हैं । इस विषय में यह प्रमाण है ।

(आयं गौः०) गौ नाम है पृथिवी, सूर्य्य, चन्द्रमादि लोकों का । वे सब अपनी २ परिधि में, अन्तरिक्ष के मध्य में, सदा घूमते रहते हैं । परन्तु जो जल है सो पृथिवी की माता के समान है । क्योंकि पृथिवी, जल के परमाणुओं के साथ अपने परमाणुओं के संयोग से ही उत्पन्न हुई है, और मेघमण्डल के जल के बीच में गर्भ के समान सदा रहती है, और सूर्य्य उस के पिता के समान है । इस से सूर्य के चारों ओर घूमती है इसी प्रकार सूर्य का पिता, वायु और आकाश माता । तथा चन्द्रमा का अग्नि पिता और जल माता । उन के प्रति वे घूमते हैं । इसी प्रकार से सब लोक अपनी २ कक्षा में सदा घूमते हैं । इस विषय का संस्कृत में निघण्टु और निरुक्त का प्रमाण लिखा है, उस को देख लेना । इसी प्रकार सूत्रात्मा जो वायु है उस के आधार और आकर्षण से सब लोकों का धारण और भ्रमण होता है तथा परमेश्वर अपने सामर्थ्य से पृथिवी आदि सब लोकों का धारण, भ्रमण और पालन कर रहा है ॥ १ ॥

* ब्रह्मानन्दवल्ली, प्रथमानुवाके ।

या गौर्वर्त्तनिं पर्य्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः । सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ॥ २ ॥ ऋ० अ० ८ । अ० २ । व० १० । मं० १ ॥

भाष्यम्

(या गौर्वर्त्तनिं०) या पूर्वोक्ता गौर्वर्त्तनिं स्वकीयमार्गं (अवारतः) निरन्तरं भ्रमती सती पर्य्येति । विवस्वतेऽर्थात्सूर्य्यस्य * परितः सर्वतः स्वस्वमार्गं गच्छति । (निष्कृतं) कथंभूतं मार्गं तत्तद्गमनार्थमीश्वरेण (निष्कृतं) निष्पादितम् । (पयो दुहाना०) अवारतो निरन्तरं पयो दुहानाऽनेकरसफलादिभिः प्राणिनः प्रपूरयती । तथा व्रतनी व्रतं स्वकीयभ्रमणादिसत्यनियमं प्रापयन्ती । (सा,प्र०) दाशुषे दानकर्त्रे, वरुणाय श्रेष्ठकर्मकारिणे, देवेभ्यो विद्वद्भ्यश्च, हविषा हविर्दानेन सर्वाणि सुखानि दाशत् ददाति । किं कुर्वती ? प्रब्रुवाणा सर्वप्राणिनां व्यक्तवाण्या हेतुभूता सतीयं वर्त्तत इति ॥ २ ॥

भाषार्थ

(या गौर्व०) जिस २ का नाम गौ कह आये हैं सो २ लोक अपने २ मार्ग में घूमता और पृथिवी अपनी कक्षा में सूर्य्य के चारों ओर घूमती है । अर्थात् परमेश्वर ने जिस २ के घूमने के लिये जो २ मार्ग निष्कृत अर्थात् निश्चय किया है उस उस मार्ग में सब लोक घूमते हैं । (पयो दुहाना०) वह गौ अनेक प्रकार के रस, फल, फूल, तृण और अन्नादि पदार्थों से सब प्राणियों को निरन्तर पूर्ण करती है । तथा अपने २ घूमने के मार्ग में सब लोक सदा घूमते २ नियम ही से प्राप्त हो रहे हैं । (सा प्रब्रुवाणा०) जो विद्यादि उत्तम गुणों का देनेवाला परमेश्वर है उसी के जानने के लिये सब जगत् दृष्टान्त है और जो विद्वान् लोग हैं उन को उत्तम पदार्थों के दान से अनेक सुखों को भूमि देती और पृथिवी, सूर्य्य, वायु और चन्द्रादि गौ ही सब प्राणियों की वाणी का निमित्त भी है ॥ २ ॥

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आततन्थ । तस्मै त इन्द्रो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ३ ॥ ऋ० अ० ६ । अ० ४ । व० १३ । मं० ३ ॥

भाष्यम्

(त्वं सोम०) अस्याभिप्रा०—अस्मिन्मन्त्रे चन्द्रलोकः पृथिवीमनुभ्रमतीत्ययं

* सुपांसुलुगिति सूत्रेण विवस्वत इति प्राप्ते विवस्वते चेति पदं जायते ॥

विशेषोस्ति । अयं सोमश्चन्द्रलोकः पितृभिः पितृवत्पालकैर्गुणैः सह संविदानः सम्यक् ज्ञातः सन् भूमिमनुभ्रमति । कदाचित्सूर्य्यपृथिव्योर्मध्येपि भ्रमन्सन्नागच्छतीत्यर्थः । अस्यार्थं भाष्यकरणसमये स्पष्टतया वक्ष्यामि । तथा द्यावापृथिवी एजेते इति मन्त्रवर्णार्था द्यौः सूर्य्यः, पृथिवी च भ्रमतश्चलत इत्यर्थः । अर्थात्स्वस्यां स्वस्यां कक्षायां सर्वे लोका भ्रमन्तीति सिद्धम् ॥ ३ ॥

इति पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः संक्षेपतः

भाषार्थ

(त्वं सोम०) इस मन्त्र में यह बात है कि चन्द्रलोक पृथिवी के चारों ओर घूमता है । कभी २ सूर्य और पृथिवी के बीच में भी आ जाता है । इस मन्त्र का अर्थ अच्छी तरह से भाष्य में करेंगे । तथा (द्यावापृथिवी) यह बहुत मन्त्रों में पाठ है कि द्यौः नाम प्रकाश करने वाले सूर्य आदि लोक और जो प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोक हैं वे सब अपनी २ कक्षा में सदा घूमते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि सब लोक भ्रमण करते हैं ॥ ३ ॥

इति संक्षेपतः पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः

अथाकर्षणानुकर्षणविषयः

यदा तें हर्य्यता हरीं वावृधाते दिवे दिवे । आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ १ ॥ ऋ० अ० ६ । अ० १ । व० ६ । मं० ३ ॥

भाष्यम्

(यदा ते०) अस्याभिप्रा०—सूर्य्येण सह सर्वेषां लोकानामाकर्षणमस्तीश्वरेण सह सूर्य्यादिलोकानां चेति । हे इन्द्रेश्वर ! वा वायो ! सूर्य्य ! यदा यस्मिन्काले ते हरी आकर्षणप्रकाशनहरणशीलौ बलपराक्रमगुणावश्वौ किरणौ वा हर्य्यता हर्य्यतौ प्रकाशवन्तावत्यन्तं वर्धमानौ भवतस्ताभ्यां (आदित्) तदनन्तरं (दिवे-दिवे) प्रतिदिनं प्रतिक्षणं च ते तव गुणाः प्रकाशाकर्षणादयो (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सर्वान् लोकानाकर्षणेन येमिरे नियमेन धारयन्ति । अतःकारणात्सर्वे लोकाः स्वां स्वां कक्षां विहायेतस्ततो नैव विचलन्तीति ॥ १ ॥

भाषार्थ

(यदा ते०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब लोकों के साथ सूर्य्य का आकर्षण और सूर्य्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण है । (यदा

ते०) हे इन्द्र परमेश्वर ! आप के अनन्त बल और पराक्रमगुणों से सब संसार का धारण, आकर्षण और पालन होता है । आप के ही सब गुण सूर्य्यादि लोकों को धारण करते हैं । इस कारण से सब लोक अपनी २ कक्षा और स्थान से इधर उधर चलायमान नहीं होते । दूसरा अर्थ—इन्द्र जो वायु, सूर्य्य है इस में ईश्वर के रचे आकर्षण, प्रकाश और बल आदि बड़े २ गुण हैं । उन से सब लोकों का दिन २ और क्षण २ के प्रति धारण, आकर्षण और प्रकाश होता है । इस हेतु से सब लोक अपनी २ ही कक्षा में चलते रहते हैं, इधर उधर विचल भी नहीं सकते ॥ १ ।

यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे । आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ २ ॥ ऋ० अ० ६ । अ० १ । व० ६ । मं० ४ ॥

भाष्यम्

(यदा ते मारुती०) अस्याभिप्रा०—अत्रापि पूर्वमन्त्रवदाकर्षणविद्यास्तीति । हे पूर्वोक्तेन्द्र ! यदा ते तव मारुतीर्मारुत्यो मरणधर्माणो मरुत्प्रधाना वा विशः प्रजास्तुभ्यं येमिरे तवाकर्षणधारणनियमं प्राप्नुवन्ति तदैव सर्वाणि विश्वानि भुवनानि स्थितिं लभन्ते । तथा तवैव गुणैर्नियेमिरे । आकर्षणनियमं प्राप्तवन्ति सन्ति । अतएव सर्वाणि भुवनानि यथाकक्षं भ्रमन्ति वसन्ति च ॥ २ ॥

भाषार्थ

(यदा ते मारुती०) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षण विद्या है । हे परमेश्वर ! आप की जो प्रजा, उत्पत्ति स्थिति और प्रलयधर्मवाली और जिसमें वायु प्रधान है वह आप के आकर्षणादि नियमों से तथा सूर्य्यलोक के आकर्षण करके भी स्थिर हो रही है । जब इन प्रजाओं को आप के गुण नियम में रखते हैं तभी भुवन अर्थात् सब लोक अपनी २ कक्षा में घूमते और स्थान में बस रहे हैं ॥२॥

यदा सूर्य्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः । आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ ३ ॥ ऋ० अ० ६ । अ० १ । व० ६ । मं० ५ ॥

भाष्यम्

(यदा सूर्य०) अभि०—अत्रापि पूर्ववदभिप्रायः । हे परमेश्वरामुं सूर्य्यं भवान् रचितवानस्ति । यद्दिवि द्योतनात्मके त्वयि शुक्रमनन्तं सामर्थ्यं ज्योतिः प्रकाशमयं वर्त्तते, तेन त्वं सूर्य्यादिलोकानधारयो धारितवानसि । (आदित्ते) तदनन्तरं (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सूर्य्यादयो लोका अपि

(येमिरे) तदाकर्षणनियमेनैव स्थिराणि सन्ति । अर्थाद्यथा सूर्यस्याकर्षणेन पृथिव्यादयो लोकास्तिष्ठन्ति, तथा परमेश्वरस्याकर्षणेनैव सूर्यादयः सर्वे लोका नियमेन सह वर्त्तन्त इति ॥ ३ ॥

भाषार्थ

(यदा सूर्य्य०) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षण विचार है । हे परमेश्वर! जब उन सूर्य्यादि लोकों को आप ने रचा और आप के ही प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं और आप अपने अनन्त सामर्थ्य से उन का धारण कर रहे हो, इसी कारण से सूर्य्य और पृथिवी आदि लोकों और अपने स्वरूप को धारण कर रहे हैं । इन सूर्य्य आदि लोकों का सब लोकों के साथ आकर्षण से धारण होता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर सब लोकों का आकर्षण और धारण कर रहा है ॥ ३ ॥

व्यस्तभ्नाद्रोदसी मित्रो अद्भुतोऽन्तर्वावदकृणोज्ज्योतिषा तमः ।
विचर्मणीव धिषणे अवर्त्तयद्वैश्वानरो विश्वमधत्त वृष्ण्यम् ॥ ४ ॥
ऋ० अ० ४ । अ० ५ । व० १० । मं० ३ ॥

भाष्यम्

(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) अभि०—परमेश्वरसूर्यलोकौ सर्वांल्लोकानाकर्षणप्रकाशाभ्यां धारयत इति । हे परमेश्वर ! तव सामर्थ्येनैव वैश्वानरः पूर्वोक्तः सूर्य्यादिलोको रोदसी द्यावापृथिव्यौ भूमिप्रकाशौ व्यस्तभ्नात्स्तम्भितवानस्ति । अतो भवान् मित्र इव सर्वेषां लोकानां व्यवस्थापकोऽस्ति । अद्भुत आश्चर्य्यस्वरूपः स सवितादिलोको ज्योतिषा तमोऽन्तरकृणोत्तिरोहितं निवारितं तमः करोति । वावत्तथैव धिषणे धारणकर्त्र्यौ द्यावापृथिव्यौ धारणाकर्षणेन व्यवर्त्तयत् । विविधतयैतयोर्वर्त्तमानं कारयति । कस्मिन्निव चर्मण्याकर्षितानि लोमानीव । यथा त्वचि लोमानि स्थितान्याकर्षितानि भवन्ति, तथैव सूर्य्यादिबलाकर्षणेन सर्वे लोकाः स्थापिताः सन्तीति विज्ञेयम् । अतः किमागतं ? वृष्ण्यं वीर्यवद्विश्वं सर्वं जगच्च सूर्य्यादिलोको धारयति, सूर्य्यादेर्धारणमीश्वरः करोतीति ॥ ४ ॥

भाषार्थ

(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षणविचार है । हे परमेश्वर ! आप के प्रकाश से ही वैश्वानर सूर्य आदि लोकों का धारण और प्रकाश होता है । इस हेतु से सूर्य आदि लोक भी अपने २ आकर्षण से अपना और पृथिवी

आदि लोकों का भी धारण करने में समर्थ होते हैं । इस कारण से आप सब लोकों के परम मित्र और स्थापन करनेवाले हैं, और आप का सामर्थ्य अत्यन्त आश्चर्यरूप है । सो सविता आदि लोक अपने प्रकाश से अन्धकार को निवृत्त कर देते हैं । तथा प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप इन दोनों लोकों का समुदाय धारण और आकर्षण व्यवहार में वर्त्तते हैं । इस हेतु से इन से नाना प्रकार का व्यवहार सिद्ध होता है । वह आकर्षण किस प्रकार से है कि जैसे त्वचा में लोमों का आकर्षण हो रहा है वैसे ही सूर्य आदि लोकों के आकर्षण के साथ सब लोकों का आकर्षण हो रहा है और परमेश्वर भी इन सूर्य आदि लोकों का आकर्षण कर रहा है ॥ ४ ॥

आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च । हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ १ ॥ य० अ० ३३ । मं० ४३ ॥

भाष्यम्

(आकृष्णेन०) अभि०—अत्राप्याकर्षणविद्यास्तीति । सविता परमात्मा सूर्य्यलोको वा रजसा सर्वैर्लोकैः सहाकृष्णेनाकर्षणगुणेन सह वर्त्तमानोस्ति । कथंभूतेन गुणेन ? हिरण्ययेन ज्योतिर्मयेन । पुनः कथंभूतेन ? रमणानन्दादिव्यवहारसाधकज्ञानतेजोरूपेण रथेन । किं कुर्वन् सन् ? मर्त्यं मनुष्यलोकममृतं सत्यविज्ञानं किरणसमूहं वा स्वस्वकक्षायां निवेशयन्व्यवस्थापयन्सन् । तथा च मर्त्यं पृथिव्यात्मकं लोकं प्रत्यमृतं मोक्षमोषध्यात्मकं वृष्ट्यादिकं रसं च प्रवेशयन्सन्सूर्य्यो वर्त्तमानोस्ति । स च सूर्य्यो देवो द्योतनात्मको भुवनानि सर्वान् लोकान्धारयति । तथा पश्यन्दर्शयन्सन् रूपादिकं विभक्तं याति प्रापयतीत्यर्थः । अस्मात्पूर्वमन्त्राद् द्युभिरक्तुभिरिति पदानुवर्त्तनात्सूर्य्यो द्युभिः सर्वैर्दिवसैरक्तुभिः सर्वाभी रात्रिभिश्चार्थात्सर्वाल्लोकान्प्रतिक्षणमाकर्षतीति गम्यते । एवं सर्वेषु लोकेष्वात्मिका स्वा स्वाप्याकर्षणशक्तिरस्त्येव । तथानन्ताकर्षणशक्तिस्तु खलु परमेश्वरेस्तीति मन्तव्यम् । रजो लोकानां नामास्ति । अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्य्याः । लोका रजांस्युच्यन्ते ॥ निरु० अ० ४ । खं० १९ ॥ रथो रंहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिँस्तिष्ठतीति वा, रयतेर्वा, रसतेर्वा ॥ निरु० अ० ९ । खं० ११ ॥ विश्वानरस्यादित्यस्य ॥ निरु० अ० १२ । खं० २१ ॥ अतो

रथशब्देन रमणानन्दकरं ज्ञानं तेजो गृह्यते । इत्यादयो मन्त्रा वेदेषु धारणाकर्षणविधायका बहवः सन्तीति बोध्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ

(आकृष्णेन०) अभि०—इस मन्त्र में भी आकर्षण विद्या है । सविता जो परमात्मा, वायु और सूर्य लोक हैं वे सब लोकों के साथ आकर्षण, धारण गुण से सहित वर्त्तते हैं । सो हिरण्यय अर्थात् अनन्त बल, ज्ञान और तेज से सहित (रथेन) आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करने के योग्य ज्ञान और तेज से युक्त हैं । इस में परमेश्वर सब जीवों के हृदयों में अमृत अर्थात् सत्य विज्ञान को सदैव प्रकाश करता है । और सूर्यलोक भी रस आदि पदार्थों को मर्त्य अर्थात् मनुष्य लोक में प्रवेश करता और सब लोकों को व्यवस्था से अपने २ स्थान में रखता है । वैसे ही परमेश्वर धर्मात्मा ज्ञानी लोगों को अमृतरूप मोक्ष देता और सूर्यलोक भी रसयुक्त जो ओषधि और वृष्टि का अमृतरूप जल को पृथिवी में प्रविष्ट करता है । सो परमेश्वर सत्य असत्य का प्रकाश और सब लोकों का प्रकाश करके सब को जनाता है । तथा सूर्यलोक भी रूपादि का विभाग दिखलाता है । इस मन्त्र से पहिले मन्त्र में (द्युभिरक्तुभिः) इस पद से यही अर्थ आता है कि दिन रात अर्थात् सब समय में सब लोकों के साथ सूर्यलोक का और सूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण हो रहा है । तथा सब लोकों में ईश्वर ही की रचना से अपना २ आकर्षण है और परमेश्वर की तो आकर्षणरूप शक्ति अनन्त है । यहां लोकों का नाम रज है । और रथ शब्द के अनेक अर्थ हैं । इस कारण से कि जिस से रमण और आनन्द की प्राप्ति होती है उस को रथ कहते हैं । इस विषय में निरुक्त का प्रमाण इसी मन्त्र के भाष्य में लिखा है सो देख लेना । ऐसे धारण और आकर्षणविद्या के सिद्ध करने वाले मन्त्र वेदों में बहुत हैं ॥ १ ॥

इति धारणाकर्षणविषयः संक्षेपतः



अथ प्रकाश्यप्रकाशकविषयः संक्षेपतः

सूर्य्येण चन्द्रादयः प्रकाशिता भवन्तीत्यत्र विषये विचारः

स॒त्येनोत्त॑भिता॒ भूमि॒: सूर्य्ये॒णोत्त॑भिता॒ द्यौः । ऋ॒तेना॑दि॒त्यास्ति॑ष्ठन्ति दि॒वि सोमो॒ अधि॑ श्रि॒तः ॥ १ ॥ सोमे॑नादि॒त्या ब॒लिन॒: सोमे॑न पृथि॒वी म॒ही । अथो॒ नक्ष॑त्राणामे॒षामु॒पस्थे॒ सोम॒ आहि॑तः ॥२॥ अथर्व० कां० १४ । अनु० १ । मं० १ । २ ॥ कः स्वि॑देका॒की च॑रति॒ क उ॑ स्वि॒ज्जा॑यते॒ पुन॑: । किंस्वि॑द्धि॒मस्य॑ भेष॒जं किं वा वप॑नं म॒हत् ॥ ३ ॥ सूर्य्य॑ एका॒की च॑रति च॒न्द्रमा॑ जायते॒ पुन॑: । अ॒ग्निर्हि॒मस्य॑ भेष॒जं भूमि॑रा॒वप॑नं म॒हत् ॥ ४ ॥ य० अ० २३ । मं० ६ । १० ॥

भाष्यम्

(सत्येः नो०) एवामाभि०—अत्र चन्द्रपृथिव्यादिलोकानां सूर्य्यः प्रकाशकोस्तीति । इयं भूमिः सत्येन नित्यस्वरूपेण ब्रह्मणोत्तभितोर्ध्वमाकाशमध्ये धारितास्ति वायुना सूर्येण च । (सूर्य्येण०) तथा द्यौः सर्वः सूर्य्येणोत्तभितो धारितः । (ऋतेन०) कालेन सूर्य्येण वायुना वाऽऽदित्या द्वादश मासाः किरणास्त्रसरेणवो बलवन्तः सन्तो वा तिष्ठन्ति । (दिवि सोमो अधिश्रितः) एवं दिवि द्योतनात्मके सूर्य्यप्रकाशे सोमश्चन्द्रमा आधिश्रित आश्रितः सन्प्रकाशितो भवति, अर्थाच्चन्द्रलोकादिषु स्वकीयः प्रकाशो नास्ति । सर्वे चन्द्रादयो लोकाः सूर्य्यप्रकाशेनैव प्रकाशिता भवन्तीति वेद्यम् ॥ १ ॥ (सोमेनादित्या०) सोमेन चन्द्रलोकेन सहादित्याः किरणाः संयुज्य ततो निवृत्य च भूमिं प्राप्य बलिनो बलं कर्त्तुं शीला भवन्ति, तेषां बलप्रापकशीलत्वात् । तद्यथा । यावन्तो (यावति ?)ऽन्तरिक्षदेशे सूर्य्यप्रकाशस्यावरणं पृथिवी करोति तावति देशेऽधिकं शीतलत्वं भवति । तत्र सूर्य्यकिरणपतनाभावात्तदभावे चोष्णत्वाभावात्ते बलकारिणो बलवन्तो भवन्ति । सोमेन चन्द्रमसः प्रकाशेन सोमाद्यौषध्यादिना च पृथिवी मही बलवती पुष्टा भवति । अथो इत्यनन्तरमेषां नक्षत्राणामुपस्ते समीपे चन्द्रमा आहितः स्थापितः सन्वर्त्तत इति विज्ञेयम् ॥ २ ॥ (कः स्वि०) को ह्येकाकी ब्रह्माण्डे चरति ? । कोऽत्र स्वेनैव स्वयं प्रकाशितः सन् भवतीति ? । कः पुनः प्रकाशितो जायते ? । हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधं किमस्ति ? । तथा बीजारोपणार्थं महत् क्षेत्रमिव

किमत्र भवतीति ? प्रश्नाश्चत्वारः ॥ ३ ॥ एषां क्रमेणोत्तराणि । (सूर्य्य एकाकी०) अस्मिन्संसारे सूर्य्य एकाकी चरति, स्वयं प्रकाशमानः सन्नन्यान्सर्वान् लोकान् प्रकाशयति, तस्यैव प्रकाशेन चन्द्रमाः पुनः प्रकाशितो जायते, नहि चन्द्रमसि स्वतः प्रकाशः कश्चिदस्तीति । अग्निर्हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधमस्तीति । भूमिर्महदावपनं बीजारोपणादेरधिकरणं क्षेत्रं चेति । वेदेष्वेतद्विषयप्रतिपादका एवंभूता मन्त्रा बहवः सन्ति ॥ ४ ॥

इति प्रकाश्यप्रकाशकविषयः

भाषार्थ

(सत्येनो०) इन मन्त्रों में यही विषय और उनका यही प्रयोजन है कि लोक दो प्रकार के होते हैं । एक तो प्रकाश करने वाले और दूसरे वे जो प्रकाश किये जाते हैं । अर्थात् सत्यस्वरूप परमेश्वर ने ही अपने सामर्थ्य से सूर्य्य आदि सब लोकों को धारण किया है । उसी के सामर्थ्य से सूर्य्यलोक ने भी अन्य लोकों का धारण और प्रकाश किया है । तथा ऋत * अर्थात् काल महीने सूर्य किरण और वायु ने भी सूक्ष्म स्थूल त्रसरेणु आदि पदार्थों का यथावत् धारण किया है । (दिवि सोमो०) इसी प्रकार दिवि अर्थात् सूर्य के प्रकाश में चन्द्रमा प्रकाशित होता है । उसमें जितना प्रकाश है सो सूर्य आदि लोक का ही है । और ईश्वर का प्रकाश तो सब में है । परन्तु चन्द्र आदि लोकों में अपना प्रकाश नहीं है । किन्तु सूर्य आदि लोकों से ही चन्द्र और पृथिव्यादि लोक प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १ ॥ (सोमेनादित्या०) जब आदित्य की किरण चन्द्रमा के साथ युक्त होके उससे उलट कर भूमि को प्राप्त हो के बलवाली होती हैं तभी वे शीतल भी होती हैं । क्योंकि आकाश के जिस २ देश में सूर्य के प्रकाश को पृथिवी की छाया रोकती है उस २ देश में शीत भी अधिक होता है । जिस २ देश में सूर्य की किरण तिरछी पड़ती है उस २ देश में गर्मी भी कमती होती है । फिर गर्मी के कम होने और शीतलता के अधिक होने से सब मूर्त्तिमान् पदार्थों के परमाणु जम जाते हैं । उन को जमने से पुष्टि होती है । और जब उन के बीच में सूर्य्य की तेजरूप किरण पड़ती है तब उन में से भाफ

* तथा ऋत अर्थात् काल ने, मही ने सूर्य ने किरण और वायु ने भी यथायोग्य और सूक्ष्म स्थूल त्रसरेणु आदि पदार्थों का धारण किया है । (हस्तलिखित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ऐसा पाठ है)

उठती है। उनके योग से किरण भी बलवाली होती हैं। जैसे जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब अत्यन्त चमकता है और चन्द्रमा के प्रकाश और वायु से सोमलता आदि ओषधियां भी पुष्ट होती हैं और उन से पृथिवी पुष्ट होती है। इसीलिये ईश्वर ने नक्षत्र लोकों के समीप चन्द्रमा को स्थापित किया है ॥ २ ॥ (कः स्वि०) इस मन्त्र में चार प्रश्न हैं। उन के बीच में से पहिला (प्रश्न) कौन एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपने प्रकाश से प्रकाशवाला है? (दूसरा) कौन दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होता है? (तीसरा) शीत का औषध क्या है? और (चौथा) कौन बड़ा क्षेत्र अर्थात् स्थूलपदार्थ रखने का स्थान है? ॥ ३ ॥ इन चारों प्रश्नों का क्रम से उत्तर देते हैं—(सूर्य एकाकी०)। (१) इस संसार में सूर्य्य ही एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपनी ही कील पर घूमता है। तथा प्रकाशस्वरूप होकर सब लोकों का प्रकाश करने वाला है। (२) उसी सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है। (३) शीत का औषध अग्नि है और चौथा यह है पृथिवी साकार चीजों के रखने का स्थान तथा सब बीज बोने का बड़ा खेत है। (४) वेदों में इस विषय के सिद्ध करने वाले मन्त्र बहुत हैं। उन में से यहां एकदेशमात्र लिख दिया है। वेदभाष्य में सब विषय विस्तारपूर्वक आ जावेंगे ॥ ४ ॥

इति संक्षेपतः प्रकाश्यप्रकाशकविषयः

अथ गणितविद्याविषयः

एका॑ च मे ति॒स्रश्च॑ मे ति॒स्रश्च॑ मे॒ पञ्च॑ च मे॒ पञ्च॑ च मे स॒प्त च॑ मे स॒प्त च॑ मे॒ नव॑ च मे॒ नव॑ च म॒ एका॑दश च म॒ एका॑दश च मे॒ त्रयो॑दश च मे॒ त्रयो॑दश च मे॒ पञ्च॑दश च मे॒ पञ्च॑दश च मे स॒प्तद॑श च मे स॒प्तद॑श च मे॒ नव॑दश च मे॒ नव॑दश च म॒ एक॑विꣳशतिश्च म॒ एक॑विꣳशतिश्च मे॒ त्रयो॑विꣳशतिश्च मे॒ त्रयो॑विꣳशतिश्च मे॒ पञ्च॑विꣳशतिश्च मे॒ पञ्च॑विꣳशतिश्च मे स॒प्तविꣳ॑शतिश्च मे स॒प्तविꣳ॑शतिश्च मे॒ नव॑विꣳशतिश्च मे॒ नव॑विꣳशतिश्च म॒ एक॑त्रिꣳशच्च म॒ एक॑त्रिꣳशच्च मे॒ त्रय॑स्त्रिꣳशच्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ १ ॥ चत॑स्रश्च मे॒ऽष्टौ च॑ मे॒ऽष्टौ च मे॒ द्वाद॑श च मे॒ द्वाद॑श च मे॒ षोड॑श च मे षोड॑श च मे विꣳश॒तिश्च॑ मे विꣳश॒तिश्च॑ मे॒ चतु॑र्विꣳ-

शतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मे द्वात्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मेऽष्टाचत्वारिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२॥ य० अ० १८ । मं० २४ । २५ ॥

भाष्यम्

अभि०—अनयोर्मन्त्रयोर्मध्ये खल्वीश्वरेणाङ्कबीजरेखागणितं प्रकाशितमिति । (एका०) एकार्थस्य या वाचिका संख्यास्ति (१) सैकेन युक्ता द्वौ भवतः (२) यत्र द्वावेकेन युक्तौ सा त्रित्ववाचिका (३) ॥ १ ॥ द्वाभ्यां द्वौ युक्तौ चत्वारः (४) एवं तिसृभिस्त्रित्वसंख्यायुक्ता षट् (६) एवमेव चतस्रश्च मे पञ्च च मे इत्यादिषु परस्परं संयोगादिक्रियया ऽनेकविधाङ्कैर्गणितविद्या सिध्यति । अन्यत्खल्वत्रानेकचकाराणां पाठान्मनुष्यैरनेकविधा गणितविद्याः सन्तीति वेद्यम् । सेयं गणितविद्या वेदाङ्गे ज्योतिषशास्त्रे प्रसिद्धास्त्यतो नात्र लिख्यते । परन्त्वीदृशा मन्त्रा ज्योतिषशास्त्रस्थगणितविद्याया मूलमिति विज्ञायते । इयमङ्कसंख्या निश्चितेषु संख्यातपदार्थेषु प्रवर्त्तते । ये चाज्ञातसंख्याः पदार्थास्तेषां विज्ञानार्थं बीजगणितं प्रवर्त्तते । तदपि विधानमेका चेति । अ—क इत्यादिसंकेतैनैतन्मंत्रादिभ्यो बीजगणितं निःसरतीत्यवधेयम् ॥ २ ॥

"अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये । नि होता सत्सि बर्हिषि" ॥ १ ॥ साम० छं० १ प्र० १ । खं० १ । मं० १ ॥

यथैका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धेतिन्यायेन स्वरसङ्केताङ्कैर्बीजगणितमपि साध्यत इति बोध्यम्, एवं गणितविद्याया रेखागणितं तृतीयो भागः सोप्यत्रोच्यते ।

भाषार्थ

(एका च मे०) इन मन्त्रों में यही प्रयोजन है कि अङ्क, बीज और रेखा भेद से जो तीन प्रकार की गणितविद्या सिद्ध की है, उन में से प्रथम अङ्क जो संख्या है (१), सो दो वार गणने से दो की वाचक होती है । जैसे १+१=२ । ऐसे ही एक के आगे एक, तथा एक के आगे दो, वा दो के आगे एक आदि जोड़ने से भी समझ लेना । इसी प्रकार एक के साथ तीन जोड़ने से चार (४), तथा तीन को

तीन (३) के साथ जोड़ने से (६), अथवा तीन को तीन से गुणने से ३ × ३=९ हुए ॥ १ ॥ इसी प्रकार चार के साथ चार, पांच के साथ पांच, छः के साथ छः, आठ के साथ आठ इत्यादि जोड़ने वा गुणने तथा सब मन्त्रों के आशय को फैलाने से सब गणितविद्या निकलती है। जैसे पांच के साथ पांच (५५), वैसे ही पांच २ छः २ (५५) (६६) इत्यादि जान लेना चाहिये। ऐसे ही इन मन्त्रों के अर्थों को आगे योजना करने से अङ्कों से अनेक प्रकार की गणितविद्या सिद्ध होती है। क्योंकि इन मन्त्रों के अर्थ और अनेक प्रकार के प्रयोगों से मनुष्यों को अनेक प्रकार की गणितविद्या अवश्य जाननी चाहिये। और जो कि वेदों का अङ्ग ज्योतिषशास्त्र कहाता है उसमें भी इसी प्रकार के मंत्रों के अभिप्राय से गणितविद्या सिद्ध की है। और अङ्कों से जो गणितविद्या निकलती है वह निश्चित और असंख्यात पदार्थों में युक्त होती है। और अज्ञात पदार्थों की संख्या जानने के लिये जो बीजगणित होता है सो भी (एका च मे०) इत्यादि मन्त्रों ही से सिद्ध होता है। (अं+कं) (अं−कं) (कं÷अं) इत्यादि सङ्केत से निकलता है। यह भी वेदों ही से ऋषि मुनियों ने निकाला है। और इसी प्रकार से तीसरा भाग जो रेखागणित है सो भी वेदों ही से सिद्ध होता है ॥ २ ॥ (अग्न आ०) इस मन्त्र के संकेतों से भी बीजगणित निकलता है।

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। अयꣳसोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥ ३ ॥ य० अ० २३। मं० ६२ ॥ कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत्। छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥ ४ ॥ ऋ० अ० ८। अ० ७। व० १८। मं० ३ ॥

भाष्यम्

(इयं वेदिः) अभिप्रा०—अत्र मन्त्रयो रेखागणितं प्रकाश्यत इति। इयं या वेदिस्त्रिकोणा, चतुरस्रा, सेनाकारा, वर्तुलाकारादियुक्ता क्रियतेऽस्या वेदेराकृत्या रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते। एवं पृथिव्याः परोऽन्तो यो भागोऽर्थात्सर्वतः सूत्रवेष्टनवदस्ति स परिधिरित्युच्यते। यश्चायं यज्ञो हि संगमनीयो रेखागणिते मध्यो व्यासाख्यो मध्यरेखाख्यश्च सोयं भुवनस्य भूगोलस्य ब्रह्माण्डस्य वा नाभि-

रस्ति । (अयꣳ सो०) सोमलोकोप्येवमेव परिध्यादियुक्तोस्ति । (वृष्णो अश्व०) वृष्टिकर्त्तुः सूर्यस्याग्नेर्वायोर्वा वेगहेतोरपि परिध्यादिकं तथैवास्ति । (रेतः) तेषां वीर्यमोषधिरूपेण सामर्थ्यार्थं विस्तृतमप्यस्तीति वेद्यम् । (ब्रह्मायं वा०) यद् ब्रह्मास्ति तद्वाण्याः (परमं व्योम) अर्थात्परिधिरूपेणान्तर्बहिः स्थितमस्ति ॥ ३ ॥ (कासीत् प्रमा) यथार्थज्ञानं यथार्थज्ञानवान् तत्साधिका बुद्धिः कासीत् सर्वस्येति शेषः ? । एवम् (प्रतिमा) प्रतिमीयतेऽनया सा प्रतिमा, यया परिमाणं क्रियते सा कासीत् ? । एवमेवास्य (निदानम्) कारणं किमस्ति ? । (आज्यम्) ज्ञातव्यं घृतवत्सारभूतं चास्मिन् जगति किमासीत्, सर्वदुःखनिवारकमानन्देन स्निग्धं सारभूतं च ? । (परिधिः क०) तथास्य सर्वस्य विश्वस्य पृष्ठावरणम् (क आसीत्)? । गोलस्य पदार्थस्योपरि सर्वतः सूत्रवेष्टनं कृत्वा यावती रेखा लभ्येत स परिधिरित्युच्यते । (छन्दः०) स्वच्छन्दं स्वतन्त्रं वस्तु (किमासीत्) ? । (प्रउगं) ग्रहोक्थं स्तोतव्यं (किमासीत्) इति प्रश्नाः । एषामुत्तराणि । (यद्देवादे०) यत् यं देवं परमेश्वरं विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसः (अयजन्त) समपूजयन्त, पूजयन्ति, पूजयिष्यन्ति च, स एव सर्वस्य (प्रमा) यथार्थतया ज्ञातास्ति (प्रतिमा) परिमाणकर्त्ता । एवमेवाग्रेपि पूर्वोक्तोर्थो योजनीयः । अत्रापि परिधिशब्देन रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते । सेयं विद्या ज्योतिषशास्त्रे विस्तरश उक्तास्ति । एवमेतद्विषयप्रतिपादका अपि वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति ।

इति संक्षेपतो गणितविद्याविषयः

भाषार्थ

(इयं वेदिः०) अभिप्रा०—इन मन्त्रों में रेखागणित का प्रकाश किया है । क्योंकि वेदी की रचना में रेखागणित का भी उपदेश है । जैसे तिकोन, चौकोन, सेनपक्षी के आकार और गोल आदि जो वेदी का आकार किया जाता है सो आर्य्यों ने रेखागणित ही का दृष्टान्त माना था । क्योंकि (परो अन्तः पृ०) पृथिवी का जो चारों ओर घेरा है उस को परिधि और ऊपर से अन्त तक जो पृथिवी की रेखा है उस को व्यास कहते हैं । इसी प्रकार से इन मन्त्रों में आदि, मध्य और अन्त आदि रेखाओं को भी जानना चाहिये और इसी रीति से तिर्यक् विषुवत् रेखा आदि भी निकलती हैं ॥ ३ ॥ (कासीत्प्र०) अर्थात् यथार्थज्ञान क्या है ? (प्रतिमा) जिससे पदार्थों का तोल किया जाय सो क्या चीज़ है ? (निदानम्) अर्थात् कारण

जिससे कार्य उत्पन्न होता है वह क्या चीज़ है ? (आज्यं) जगत् में जानने के योग्य सारभूत क्या है ? (परिधिः०) परिधि किसको कहते हैं ? (छन्दः) स्वतन्त्र वस्तु क्या है ? (प्रउ०) प्रयोग और शब्दों से स्तुति करने के योग्य क्या है ? इन सात प्रश्नों का उत्तर यथावत् दिया जाता है । (यद्देवा देव०) जिसको सब विद्वान् लोग पूजते हैं वही परमेश्वर प्रमा आदि नाम वाला है । इन मन्त्रों में भी प्रमा और परिधि आदि शब्दों से रेखागणित साधने का उपदेश परमात्मा ने किया है । सो यह तीन प्रकार की गणितविद्या आर्य्यों ने वेदों से ही सिद्ध की है और इसी आर्य्यावर्त्त देश से सर्वत्र भूगोल में गई है ।

इति संक्षेपतो गणितविद्याविषयः

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणोपासना-विद्याविषयः

स्तुतिविषयस्तु यो भूतं चेत्यारभ्योक्तो, वक्ष्यते च । अथेदानीं प्रार्थनाविषय उच्यते ।

तेजो॑ऽसि॒ तेजो॒ मयि॑ धेहि वी॒र्य॒मसि वी॒र्यं॒ मयि॑ धेहि॒ बल॑मसि॒ बलं॒ मयि॑ धेहि । ओजो॒ऽस्योजो॒ मयि॑ धेहि म॒न्युर॑सि म॒न्युं मयि॑ धेहि सहो॑ऽसि॒ सहो॒ मयि॑ धेहि ॥ १ ॥ य० अ० १६ । म० ६ ॥ मयी॒दमि॑न्द्र॑ इन्द्रि॒यं द॑धात्व॒स्मान् रायो॑ म॒घवा॑नः सचन्ताम् । अ॒स्माक॑ᳫं सन्त्वा॒शिषः॑ स॒त्या नः॑ सन्त्वा॒शिषः॑ ॥ २ ॥ य० अ० २ । मं० १० ॥ यां मे॒धां दे॑वग॒णाः पि॒तर॑श्चो॒पास॑ते । तया॒ माम॒द्य मे॒धया॑ग्ने मे॒धावि॑नं कुरु॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥ य० अ० ३२ । मं० १४ ॥

भाष्यम्

अभि०--तेजोसीत्यादिमन्त्रेषु परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनादिविषयाः प्रकाश्यन्त इति बोध्यम् । (तेजोसि०) हे परमेश्वर ! त्वं वीर्य्यमस्यनन्तविद्यादिगुणैः प्रकाशमयोसि, मय्यप्यसंख्यातं तेजो विज्ञानं धेहि । (वीर्य्यमसि०) हे परमेश्वर ! त्वं वीर्यमस्यनन्तपराक्रमवानासि, कृपया मय्यपि शरीरबुद्धिशौर्य्यस्फूर्त्यादिवीर्य्यं

पराक्रमं स्थिरं धारय । (बलम०) हे महाबलेश्वर ! त्वमनन्तबलमसि, मय्य-प्यनुग्रहत उत्तमं बलं धेहि स्थापय । (ओजो०) हे परमेश्वर ! त्वमोजोसि, मय्यप्योजः सत्यं विद्याबलं धेहि । (मन्युरसि०) हे परमेश्वर ! त्वं मन्युर्दुष्टा-न्प्रति क्रोधकृदसि, मय्यपि स्वसत्तया दुष्टान्प्रति मन्युं धेहि । (सहोसि०) सहनशीलेश्वर ! त्वं सहोसि, मय्यपि सुखदुःखयुद्धादिसहनं धेहि । एवं कृपयै-तदादिशुभान्गुणान्मह्यं देहीत्यर्थः ॥ १ ॥ (मयीदमिन्द्र०) हे इन्द्र परमैश्वर्य-वन् परमात्मन् ! मयि मदात्मनि श्रोत्रादिकं मनश्च सर्वोत्तमं भवान् दधातु । तथाऽस्मांश्च पोषयतु । अर्थात् सर्वोत्तमैः पदार्थैः सह वर्तमानानस्मान्सदा कृपया करोतु पालयतु च । (अस्मान् रायो०) तथा नोस्मभ्यं मघं परमं विज्ञानादिधनं विद्यते यस्मिन् स मघवा, भवान् स परमोत्तमं राज्यादिधनमस्मदर्थं दधातु । (सचन्तां०) सचतां तत्र चास्मान् समवेतान्करोतु । तथा भवन्त उत्तमेषु गुणेषु सचन्तां समवेता भवन्त्वितीश्वराऽऽज्ञास्ति (अस्माकᳬस०) तथा हे भगवन् ! त्वत्कृपयाऽस्माकं सर्वा आशिष इच्छाः सर्वदा सत्या भवन्तु, मा काश्चिद-स्माकं चक्रवर्त्तिराज्यानुशासनादय आशिष इच्छा मोघा भवेयुः ॥ २ ॥ (याम्मेधां०) हे अग्ने परमेश्वर ! परमोत्तमया मेधया धारणावत्या धिया बुद्ध्या सह (मा) मां मेधाविनं सर्वदा कुरु । का मेधेत्युच्यते । (देवगणाः) विद्व-त्समूहाः, पितरो विज्ञानिनश्च यामुपासते, (तया०) तया मेधया (अद्य) वर्त्तमानादिने मां सर्वदा युक्तं कुरु संपादय । (स्वाहा) अत्र स्वाहाशब्दार्थे प्रमाणं निरुक्तकारा आहुः । स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत्सु आहेति वा, स्वा वागाहेति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा । तासामेषा भवति ॥ निरु० अ० ८ । खं० २० ॥ स्वाहाशब्दस्यायमर्थः । (सु आहेति वा) (सु) सुष्ठु कोमलं मधुरं कल्याणकरं प्रियं वचनं सर्वैर्मनुष्यैः सदा वक्तव्यं, (स्वावागाहेति वा) या ज्ञानमध्ये स्वकीया वाग्वर्त्तते सा यदाह तदेव वागिन्द्रियेण सर्वदा वा-च्यम् । (स्वं प्राहेति वा) स्वं स्वकीयपदार्थं प्रत्येव स्वत्वं वाच्यं न परपदार्थं प्रति चेति । (स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा) सुष्ठुरीत्या संस्कृत्य २ हविः सदा होतव्यमिति स्वाहाशब्दपर्य्यायार्थाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ

अब गणितविद्या विषय के पश्चात् तेजोसीत्यादि मन्त्रों में केवल ईश्वर की प्रार्थना, याचना, समर्पण और उपासनाविषय है । सो आगे लिखा जाता है । परन्तु जानना

चाहिये कि स्तुतिविषय तो (यो भूतं च०) इत्यादि मन्त्रों में कुछ २ लिख दिया है और आगे भी कुछ लिखेंगे। यहां पहिले प्रार्थनाविषय लिखते हैं। (तेजोऽसि०)। अर्थात् हे परमेश्वर ! आप प्रकाशरूप हैं, मेरे हृदय में भी कृपा से विज्ञानरूप प्रकाश कीजिये। (वीर्य्यमसि०) हे जगदीश्वर ! आप अनन्तपराक्रम वाले हैं, मुझ को भी पूर्ण पराक्रम दीजिये। (बलमसि०) हे अनन्त बलवाले महेश्वर ! आप अपने अनुग्रह से मुझको भी शरीर और आत्मा में पूर्ण बल दीजिये। (ओजो०) हे सर्वशक्तिमन् ! आप सब सामर्थ्य के निवासस्थान हैं, अपनी करुणा से यथोचित सामर्थ्य का निवासस्थान मुझको भी कीजिये। (मन्युरसि०) हे दुष्टों पर क्रोध करने हारे ! आप दुष्ट कामों और दुष्ट जीवों पर क्रोध करने का स्वभाव मुझ में भी रखिये। (सहोसि०) हे सब के सहन करनेहारे ईश्वर ! आप जैसे पृथिवी आदि लोकों के धारण और नास्तिकों के दुष्टव्यवहारों को सहते हैं वैसे ही सुख, दुःख, हानि, लाभ, सरदी, गरमी, भूख, प्यास और युद्ध आदि का सहने वाला मुझ को भी कीजिये। अर्थात् सब शुभगुण मुझ को देके अशुभ गुणों से सदा अलग रखिये ॥ १ ॥ (मयीदमिन्द्र०) हे उत्तम ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर ! आप अपनी कृपा से श्रोत्र आदि उत्तम इन्द्रिय और श्रेष्ठ स्वभाव वाले मन को मुझ में स्थिर कीजिये। अर्थात् हम को उत्तम गुण और पदार्थों के सहित सब दिन के लिये कीजिये। (अस्मान् रा०) हे परमधन वाले ईश्वर ! आप उत्तम राज्य आदि धनवाले हम को सदा के लिये कीजिये। (सचन्तां०) मनुष्यों के लिये ईश्वर की यह आज्ञा है कि हे मनुष्यो ! तुम लोग सब काल में सब प्रकार से उत्तम गुणों का ग्रहण और उत्तम ही कर्मों का सेवन सदा करते रहो। (अस्माकꣳस०) हे भगवन् ! आपकी कृपा से हम लोगों की सब इच्छा सर्वदा सत्य ही होती रहे, तथा सदा सत्य ही कर्म करने की इच्छा हो, किन्तु चक्रवर्ती राज्य आदि बड़े २ काम करने की योग्यता हमारे बीच में स्थिर कीजिये ॥ २ ॥ (याम्मेधाम्०) इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि हे परमात्मन् ! आप अपनी कृपा से, जो अत्यन्त उत्तम सत्यविद्यादि शुभगुणों को धारण करने के योग्य बुद्धि है, उस से युक्त हम लोगों को कीजिये, कि जिस के प्रताप से देव अर्थात् विद्वान् और पितर अर्थात् ज्ञानी होके हम लोग आप की उपासना सब दिन करते रहें। (स्वाहा०) इस शब्द का अर्थ निरुक्तकार यास्कमुनिजी ने अनेक प्रकार से कहा है। सो लिखते हैं, कि (सु आहेति वा) सब

मनुष्यों को अच्छा, मीठा, कल्याण करने वाला और प्रिय वचन सदा बोलना चाहिये। (स्वा वागाहेति वा) अर्थात् मनुष्यों को यह निश्चय करके जानना चाहिये कि जैसी बात उन के ज्ञान के बीच में वर्त्तमान हो जीभ से भी सदा वैसा ही बोलें, उससे विपरीत नहीं। (स्वं प्राहेति वा०) सब मनुष्य अपने ही पदार्थ को अपना कहें, दूसरे के पदार्थ को कभी नहीं। अर्थात् जितना २ धर्मयुक्त पुरुषार्थ से उनको पदार्थ प्राप्त हो उतने ही में सदा सन्तोष करें। (स्वाहुतं ह०) अर्थात् सर्व दिन अच्छी प्रकार सुगन्धादि द्रव्यों का संस्कार करके सब जगत् के उपकार करने वाले होम को किया करें। और स्वाहा शब्द का यह भी अर्थ है कि सब दिन मिथ्यावाद को छोड़ के सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ३ ॥

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे। युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ ४ ॥ ऋ० अ० १। अ० ३। व० १८। मं० २॥ इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व। धर्मासि सुधर्मामेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय ॥ ५ ॥ य० अ० ३८। मं० १४। यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ६ ॥ य० अ० ३४। मं० १॥ वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे०।

भाष्यम्

(स्थिरा वः०) अभि०—ईश्वरो जीवेभ्य आशीर्ददातीति विज्ञेयम्। हे मनुष्याः! वो युष्माकं (आयुधा) आयुधान्याग्नेयास्त्रादीनि, शतघ्नीभुशुण्डीधनुर्बाणासयादीनि शस्त्राणि च, (स्थिरा) स्थिराणि मदनुग्रहेण सन्तु। (पराणुदे) दुष्टानां शत्रूणां पराजयाय युष्माकं विजयाय च सन्तु। तथा (वीळू) अत्यन्तदृढानि प्रशंसितानि च। (उत) एवं शत्रुसेनाया अपि (प्रतिष्कभे) प्रतिष्टम्भनाय पराङ्मुखतया पराजयकरणाय च सन्तु। तथा (युष्माकमस्तु तविषी०) युष्माकं तविषी सेनाऽत्यन्तप्रशंसनीया बलं चास्तु, येन युष्माकं चक्रवर्त्तिराज्यं स्थिरं स्याद्दुष्टकर्मकारिणां युष्मद्विरोधिनां शत्रूणां पराजयश्च सदा भवेत्, (मा मर्त्तस्य मा०) परन्त्वयमाशीर्वादः सत्यकर्मानुष्ठानिभ्यो हि ददामि। किन्तु

मायिनोऽन्यायकारिणो मर्त्यस्य मनुष्यस्य च कदाचिन् मास्तु । अर्थान्नैव दुष्टकर्मकारिभ्यो मनुष्येभ्योऽहमाशीर्वादं कदाचिद्ददामीत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥ (इषे पिन्वस्व०) हे भगवन् ! इषे उत्तमेच्छायै, परमोत्कृष्टायान्नाय, चास्मान् त्वं पिन्वस्व, स्वतन्त्रतया सदैव पुष्टिमतः प्रसन्नान् कुरु, (ऊर्जे०) वेदविद्याविज्ञानग्रहणाय परमप्रयत्नकारिणो ब्राह्मणवर्णयोग्यान् कृत्वा सदा पिन्वस्व, दृढोत्साहयुक्तानस्मान् कुरु, (क्षत्रा०) क्षत्राय साम्राज्याय पिन्वस्व, परमवीर[व]तः क्षत्रियस्वभावयुक्तान् चक्रवर्त्तिराज्यसहितानस्मान् कुरु, (द्यावापृ०) एवं यथा द्यावापृथिवीभ्यां सूर्य्याग्निभूम्यादिभ्यः पदार्थेभ्यः सर्वजगते प्रकाशोपकारौ भवतः, तथैव कलाकौशलयानचालनादिविद्यां गृहीत्वा सर्वमनुष्योपकारं वयं कुर्मः, एतदर्थमस्मान् पिन्वस्वोत्तमप्रयत्नवतः कुरु । (धर्मासि०) हे सुधर्म परमेश्वर ! त्वं धर्मासि न्यायकार्यसि, अस्मानपि न्यायधर्मयुक्तान् कुरु । (अमेनि०) हे सर्वहितकारकेश्वर ! यथा त्वममेनिर्निर्वैरोसि तथाऽस्मानपि सर्वमित्रान्निर्वैरान् कुरु । यथा (अस्मे) अस्मदर्थं (नृम्णानि) कृपया सुराज्यसुनियमसुरत्नादीनि धारय । एवमेवास्माकं (ब्रह्म०) वेदविद्यां ब्राह्मणवर्णं च धारय, (क्षत्रं०) राज्यं क्षत्रियवर्णं च धारय, (विशम्०) वैश्यवर्णं प्रजां च धारय । अर्थात्सर्वोत्तमान् गुणानस्मान्निष्ठान् कुर्विति प्रार्थ्यते याच्यते च भवान्, तस्मात् सर्वामस्मदिच्छां सम्पूर्णां संपादयेति ॥ ५ ॥ (यज्जाग्रतो दू०) यत् मनो जाग्रतो मनुष्यस्य दूरमुदैति, सर्वेषामिन्द्रियाणामुपरि वर्त्तमानत्वादधिष्ठातृत्वेन व्याप्नोति, (दैवम्) ज्ञानादिदिव्यगुणयुक्तं, (तदु०) तत्, उ इति वितर्के, सुप्तस्य पुरुषस्य (तथैव) तेनैव प्रकारेण स्वप्ने दिव्यपदार्थद्रष्टृ (एति) प्राप्नोति, एवं सुषुप्तौ च दिव्यानन्दयुक्ततां चैति । तथा (दूरंगमम्) अर्थाद्दूरगमनशीलमस्ति, (ज्योतिषां ज्योति०) ज्योतिषामिन्द्रियाणां सूर्यादीनां च ज्योतिः सर्वपदार्थप्रकाशकं (एकम्) असहायं यन्मनोस्ति, हे ईश्वर ! भवत्कृपया, (तन्मे०) तत्, मे मम, मनो मननशीलं सत्, शिवसंकल्पं कल्याणेष्टधर्मशुभगुणप्रियमस्तु ॥ ६ ॥ एवमेव वाजश्च म इत्यष्टादशाध्यायस्थैर्मन्त्रैः सर्वस्वसमर्पणं परमेश्वराय कर्त्तव्यमिति वेदे विहितम् । अतः परमोत्तमपदार्थं मोक्षमारभ्यान्नपानादिपर्य्यन्तमीश्वराद्याचितव्यमिति सिद्धम् ।

भाषार्थ

(स्थिरा वः०) इस मन्त्र में ईश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि हे मनुष्यो ! तुम लोग सब काल में उत्तम बलवाले हो । किन्तु तुम्हारे (आयुधा)

अर्थात् आग्नेयादि अस्त्र और (शतघ्नी) तोप, (भुशुन्डी) बन्दूक, धनुष् , बाण और तलवार आदि शस्त्र सब स्थिर हों । तथा (पराणुदे) मेरी कृपा से तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं के पराजय करने के योग्य होवें । (वीळू) तथा वे अत्यन्त दृढ़ और प्रशंसा करने के योग्य होवें । (उत प्रतिष्कभे०) अर्थात् तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं की सेना के वेग थांभने के लिये प्रबल हों । तथा (युष्माकमस्तु त०) हे मनुष्यो ! तुम्हारी (तविषी०) अर्थात् सेना अत्यन्त प्रशंसा के योग्य हो । जिससे तुम्हारा अखण्डित बल और चक्रवर्त्ति राज्य स्थिर होकर दुष्ट शत्रुओं का सदा पराजय होता रहे । (मा मर्त्यस्य०) परन्तु यह मेरा आशीर्वाद केवल धर्मात्मा, न्यायकारी और श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये है । और जो (मायि०) अर्थात् कपटी, छली, अन्यायकारी और दुष्ट मनुष्य हैं उन के लिये नहीं । किन्तु ऐसे मनुष्यों का तो सदा पराजय ही होता रहेगा । इसलिये तुम लोग सदा धर्मकार्यों ही को करते रहो ॥ ४ ॥ (इषे पिन्वस्व०) हे भगवन् ! (इषे) हमारी शुभ कर्म करने ही की इच्छा हो और हमारे शरीरों को उत्तम अन्न से सदा पुष्टियुक्त रखिये । (ऊर्जे) अर्थात् अपनी कृपा से हम को सदा उत्तम पराक्रमयुक्त और दृढ़ प्रयत्न वाले कीजिये । (ब्रह्मणे०) सत्यशास्त्र अर्थात् वेदविद्या के पढ़ने पढ़ाने और उससे यथावत् उपकार लेने में हम को अत्यन्त समर्थ कीजिये, अर्थात् जिससे हम लोग उत्तम विद्यादि गुणों और कर्मों करके ब्राह्मणवर्ण हों । (क्षत्राय०) हे परमेश्वर ! आपके अनुग्रह से हम लोग चक्रवर्त्तिराज्य और शूरवीर पुरुषों की सेना से युक्त हों कि क्षत्रियवर्ण के अधिकारी हम को कीजिये । (द्यावापृ०) जैसे पृथिवी, सूर्य, अग्नि, जल और वायु आदि पदार्थों से सब जगत् का प्रकाश और उपकार होता है वैसे ही कला, कौशल, विमान आदि यान चलाने के लिये हम को उत्तम सुखसहित कीजिये, कि जिससे हम लोग सब सृष्टि के उपकार करने वाले हों। (धर्मासि०) हे सुधर्मन् न्याय करनेहारे ईश्वर ! आप न्यायकारी हैं वैसे हम को भी न्यायकारी कीजिये । (अमे०) हे भगवन् ! जैसे आप निर्वैर होके सब से वर्त्तते हो वैसे ही सब से वैर रहित हम को भी कीजिये । (अस्मे०) हे परमकारुणिक ! हमारे लिये (नृम्णानि) उत्तम राज्य, उत्तम धन और शुभगुण दीजिये । (ब्रह्म०) हे परमेश्वर आप ब्राह्मणों को हमारे बीच में उत्तमविद्यायुक्त कीजिये । (क्षत्रम्०) हम को अत्यन्त चतुर, शूरवीर और क्षत्रियवर्ण का अधिकारी कीजिये । (विशम्०) अर्थात् वैश्यवर्ण और हमारी प्रजा का रक्षण सदा कीजिये, कि जिससे हम शुभगुण

वाले होकर अत्यन्त पुरुषार्थी हों ॥ ५ ॥ (यज्जाग्रतो०) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर ! जैसे जाग्रत् अवस्था में मेरा मन दूर २ घूमने वाला सब इन्द्रियों का स्वामी तथा (दैवम्०) ज्ञान आदि दिव्यगुण वाला और प्रकाशस्वरूप रहता है वैसे ही (तदुसु०) निद्रा अवस्था में भी शुद्ध और आनन्दयुक्त रहे । (ज्योतिषां०) जो प्रकाश का भी प्रकाश करनेवाला और एक है (तन्मे०) हे परमेश्वर ! ऐसा जो मेरा मन है सो आप की कृपा से (शिवस०) कल्याण करनेवाला और शुद्धस्वभावयुक्त हो, जिससे अधर्मकामों में कभी प्रवृत्त न हो ॥ ६ ॥ इसी प्रकार से (वाजश्च मे०) इत्यादि शुक्ल यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय में मन्त्र, ईश्वर के अर्थ सर्वस्वसमर्पण करने के ही विधान में हैं । अर्थात् सब से उत्तम मोक्षसुख से लेके अन्न, जल पर्यन्त सब पदार्थों की याचना मनुष्यों को केवल ईश्वर ही से करनी चाहिये ।

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬं श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬंस्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् । स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरं च । स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहा ॥ ७ ॥ य० अ० १८ । मं० २९ ॥

भाष्यम्

(आयुर्यज्ञेन०) यज्ञो वै विष्णुः ॥ श० ब्रा० १ । २ । १३ ॥ वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगत् स विष्णुरीश्वरः, हे मनुष्यास्तेन यज्ञेनेश्वरप्राप्त्यर्थं सर्वं स्वकीयमायुः कल्पतामिति । यदस्मदीयमायुरस्ति तदीश्वरेण कल्पतां, परमेश्वराय समर्पितं भवतु । एवमेव (प्राणः), (चक्षुः), (वाक्) वाणी, (मनः) मननं ज्ञानं, (आत्मा) जीवः, (ब्रह्मा) चतुर्वेदज्ञाता यज्ञानुष्ठानकर्त्ता, (ज्योतिः) सूर्यादिप्रकाशः, [(धर्मः) न्यायः] (स्वः) सुखं, (पृष्ठं) भूम्याद्याधिकरणं, (यज्ञो०) अश्वमेधादिः शिल्पक्रियामयो वा, (स्तोमः) स्तुतिसमूहः, (यजुः) यजुर्वेदाध्ययनम्, (ऋक्) ऋग्वेदाध्ययनम्, (साम) सामवेदाध्ययनम्, चकारादथर्ववेदाध्ययनं च, (बृहच्च रथन्तरं च) महत्क्रियासिद्धिफलभोगः शिल्पविद्याजन्यं वस्तु चास्मदीयमेतत्सर्वं परमेश्वराय समर्पितमस्तु, येन वयं कृतज्ञाः स्याम । एवं कृते परमकारुणिकः परमेश्वरः सर्वोत्तमं सुखमस्मभ्यं दद्यात्, येन वयं

(स्वर्देवा०) सुखे प्रकाशिताः, (अमृता) परमानन्दम्मोक्षं (अगन्म) सर्वदा प्राप्ताः भवेम । तथा (प्रजापते प्र०) वयं परमेश्वरस्यैव प्रजा (अभूम) अर्थात्परमेश्वरं विहायान्यमनुष्यं राजानं नैव कदाचिन्मन्यामह इति । एवं जाते (वेट् स्वाहा०) सदा वयं सत्यं वदामो, भवदाज्ञाकरणे परमप्रयत्नत, उत्साहवन्तोऽभूम भवेम, मा कदाचिद्भवदाज्ञाविरोधिनो वयमभूम, किन्तु भवत्सेवायां सदैव पुत्रवद्वर्त्तेमहि ॥ ७ ॥

भाषार्थ

(आयुर्यज्ञेन०) यज्ञ नाम विष्णु का है, जो कि सब जगत् में व्यापक हो रहा है । उसी परमेश्वर के अर्थ सब चीज समर्पण कर देना चाहिये । इस विषय में यह मन्त्र है कि सब मनुष्य अपनी आयु को ईश्वर की सेवा और उसकी आज्ञापालन में समर्पित करें । (प्राणो०) अर्थात् अपना प्राण भी ईश्वर के अर्थ कर देवें । (चक्षु०) जो प्रत्यक्ष प्रमाण और आंख, (श्रोत्रं) जो श्रवण विद्या और शब्द प्रमाणादि, (वाक्०) वाणी, (मनो०) मन और विज्ञान, (आत्मा०) जीव, (ब्रह्मा) तथा चारों वेद को पढ़ के जो पुरुषार्थ किया है, (ज्योतिः०) जो प्रकाश, (स्वर्य०) जो सब सुख, (पृष्ठम्०) जो उत्तम कर्मों का फल और स्थान (यज्ञो०) जो कि पूर्वोक्त तीन प्रकार का यज्ञ किया जाता है, ये सब ईश्वर की प्रसन्नता के अर्थ समर्पित कर देना अवश्य है । (स्तोमश्च०) जो स्तुति का समूह, (यजुश्च०) सब क्रियाओं की विद्या, (ऋक् च०) ऋग्वेद अर्थात् स्तुति स्तोत्र, (साम च०) सब गान करने की विद्या, (चकारात्०) अथर्ववेद, (बृहच्च०) बड़े २ सब पदार्थ और (रथन्तरं च०) शिल्पविद्या आदि के फलों में से जो २ फल अपने आधीन हों वे सब परमेश्वर के समर्पण कर देवें । क्योंकि सब वस्तु ईश्वर ही की बनाई हैं । इस प्रकार से जो मनुष्य अपनी सब चीजें परमेश्वर के अर्थ समर्पित कर देता है उसके लिये परमकारुणिक परमात्मा सब सुख देता है, इसमें संदेह नहीं । (स्वर्देवा०) अर्थात् परमात्मा की कृपा की लहर और परमप्रकाशरूप विज्ञानप्राप्ति में शुद्ध होके, तथा सब संसार के बीच में कीर्त्तिमान् होके, हम लोग परमानन्दस्वरूप मोक्षसुख को (अगन्म०) सब दिन के लिये प्राप्त हों । (प्रजापतेः०) तथा हम सब मनुष्य लोगों को उचित है कि किसी एक मनुष्य को अपना राजा न मानें । क्योंकि ऐसा अभागी कौन मनुष्य है कि जो सर्वज्ञ, न्यायकारी सब के

पिता एक परमेश्वर को छोड़ के दूसरे की उपासना करे और राजा माने। इसलिये हम लोग उसी को अपना राजा मान के सत्य न्याय को प्राप्त हों। अर्थात् वही सब मनुष्यों के न्याय करने में समर्थ है अन्य कोई नहीं। (वेट् स्वाहा) अर्थात् हम लोग सर्वज्ञ, सत्यस्वरूप, सत्यन्याय करने वाले परमेश्वर राजा की अपने सत्यभाव से प्रजा हो के यथावत् सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने में समर्थ होवें। सब मनुष्यों को परमेश्वर से इस प्रकार की आशा करना उचित है कि हे कृपानिधे ! आपकी आज्ञा और भक्ति से हम लोग परस्पर विरोधी कभी न हों किन्तु आप और सब के साथ सदा पिता पुत्र के समान प्रेम से वर्तें ॥ ७ ॥

अथोपासनाविषयः संक्षेपतः

युञ्जते मन॑ उत युञ्जते धियो विप्रा॒ विप्र॑स्य बृह॒तो वि॑प॒श्चित॑ः। वि होत्रा॑ दधे वयुना॒विदेक॒ इन्म॒ही दे॒वस्य॑ सवि॒तुः परि॑ष्टुतिः ॥ १ ॥ ऋ० अ० ४। अ० ४। व० २४। मं० १ ॥ युञ्जा॒नः प्र॑थ॒मं मन॑स्त॒त्त्वाय॑ सवि॒ता धियम्। अ॒ग्नेर्ज्योति॒र्नि॒चाय्य॑ पृथि॒व्या अध्याभ॑रत् ॥ २ ॥ युक्ते॑न॒ मन॑सा व॒यं दे॒वस्य॑ सवि॒तुः स॒वे। स्व॒र्ग्या॒य॒ शक्त्या॑ ॥ ३ ॥ युक्त्वा॑य सवि॒ता दे॒वान्त्स्व॑र्य॒तो धि॒या दिव॑म्। बृ॒हज्ज्योतिः करिष्य॒तः सवि॒ता प्रसु॑वाति॒ तान् ॥ ४ ॥ युजे वां॒ ब्रह्म॑ पू॒र्व्यं नमो॑भि॒र्वि॑श्लोक॑ एतु प॒थ्ये॑व सूरेः। शृ॒ण्वन्तु॒ विश्वे॑ अ॒मृत॑स्य पु॒त्रा आये धामा॑नि दि॒व्यानि त॒स्थुः ॥ ५ ॥ य० अ० ११। मं० १। २। ३। ४। ५ ॥

भाष्यम्

(युञ्जते०) अस्याभि०—अत्र जीवेन सदा परमेश्वरस्यैवोपासना कर्त्तव्येति विधीयते। (विप्राः) ईश्वरोपासका मेधाविनः, (होत्राः) योगिनो मनुष्याः, (विप्रस्य०) सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य मध्ये (मनः) (युञ्जते) युक्तं कुर्वन्ति, (उत) अपि धियो बुद्धिवृत्तीस्तस्यैव मध्ये युञ्जते। कथंभूतः स परमेश्वरः ? सर्वमिदं जगत् यः (विदधे) विदधे, तथा (वयुनावि०) सर्वेषां जीवानां शुभाशुभानि यानि प्रज्ञानानि प्रजाश्च तानि यो वेद स वयनावित्, (एकः) स एकोऽद्वितीयोस्ति, (इत्) सर्वत्र व्याप्तो ज्ञानस्वरूपश्च, नास्मात्पर उत्तमः कश्चित् पदार्थो वर्त्तत इति। तस्य (देवस्य) सर्वजगत्प्रकाशकस्य, (सवितुः)

सर्वजगदुत्पादकस्येश्वरस्य सर्वैर्मनुष्यैः (परिष्टुतिः) परितः सर्वतः स्तुतिः कार्य्या, कथंभूता स्तुतिः ? (मही) महतीत्यर्थः, एवंकृते सति जीवाः परमेश्वरमुपगच्छन्तीति ॥१॥ (युञ्जानो) योगं कुर्वाणः सन् (तत्त्वाय) ब्रह्मादितत्त्वज्ञानाय प्रथमं मनो युञ्जानः सन् योऽस्ति, तस्य धियं (सविता) कृपया परमेश्वरः स्वस्मिन्नुपयुङ्क्ते, (अग्नेर्ज्योतिः) यतोऽग्नेरीश्वरस्य (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूपं (निचाय्य) यथावत् निश्चित्य, (अध्याभरत्) स योगी स्वात्मनि परमात्मानं धारितवान् भवेत्, इदमेव पृथिव्या मध्ये योगिन उपासकस्य लक्षणमिति वेदितव्यम् ॥ २ ॥ सर्वे मनुष्या एवमिच्छेयुः (स्वर्ग्याय०) मोक्षसुखाय, (शक्त्या) योगबलोन्नत्या, (देवस्य) स्वप्रकाशस्यानन्दप्रदस्य (सवितुः) सर्वान्तर्यामिनः परमेश्वरस्य (सवे) अनन्तैश्वर्य्ये (युक्तेन मनसा०) योगयुक्तेन शुद्धान्तःकरणेन वयं सदोपयुञ्जीमहीति ॥ ३ ॥ एवं योगाभ्यासेन कृतेन (स्वर्यतः) शुद्धभावप्रेम्णा (देवान्) उपासकान् योगिनः (सविता) अन्तर्यामीश्वरः कृपया (युक्त्वाय०) तदात्मसु प्रकाशकरणेन सम्यग् युक्त्वा (धिया) स्वकृपाधारवृत्त्या (बृहज्ज्योतिः) अनन्तप्रकाशं (दिवं) दिव्यं स्वस्वरूपम् (प्रसुवाति) प्रकाशयति, तथा (करिष्यतः) सत्यभक्तिं करिष्यमाणानुपासकान् योगिनः (सविता) परमकारुणिकान्तर्यामीश्वरो मोक्षदानेन सदानन्दयतीति ॥ ४ ॥ उपासनाप्रदोपासनाग्रहीतारौ प्रति परमेश्वरः प्रतिजानीते, (ब्रह्म पूर्व्यम्) यदा तौ पुरातनं सनातनं ब्रह्म (नमोभिः) स्थिरेणात्मना सत्यभावेन नमस्कारैरुपासाते तदा तद्ब्रह्म ताभ्यामाशीर्ददाति, (श्लोकः) सत्यकीर्त्तिः (वां) (वि) (एतु) व्येतु व्याप्नोतु, कस्य केव ? (सूरेः) परमविदुषः (पथ्येव) धर्ममार्ग इव, (ये) एवं य उपासकाः (अमृतस्य मोक्षस्वरूपस्य नित्यस्य परमेश्वरस्य (पुत्राः) तदाज्ञानुष्ठातारस्तत्सेवकाः सन्ति, त एव (दिव्यानि) प्रकाशस्वरूपाणि विद्योपासनायुक्तानि कर्माणि तथा दिव्यानि (धामानि) सुखस्वरूपाणि जन्मानि सुखयुक्तानि स्थानानि वा (आतस्थुः) आ समन्तात् तेषु स्थिरा भवन्ति, ते (विश्वे:०) सर्वे (वां) उपासनोपदेष्टृपदेश्यौ द्वौ (शृण्वन्तु) प्रख्यातौ जानन्तु । इत्यनेन प्रकारेणोपासनां कुर्वाणौ वां युवां द्वौ प्रतीश्वरोऽहं युजे, कृपया समवतो भवामीति ॥ ५ ॥

भाषार्थ

अब ईश्वर की उपासना का विषय जैसा वेदों में लिखा है उस में से कुछ संक्षेप

से यहां भी लिखा जाता है। (युञ्जते मन०) इस का अभिप्राय यह है कि जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है। अर्थात् उपासनासमय में सब मनुष्य अपने मन को उसी में स्थिर करें। और जो लोग ईश्वर के उपासक (विप्राः) अर्थात् बड़े २ बुद्धिमान् (होत्राः) उपासनायोग के ग्रहण करनेवाले हैं, वे (विप्रस्य) सब को जाननेवाला, (बृहतः) सब से बड़ा (विपश्चितः) और सब विद्याओं से युक्त जो परमेश्वर है, उस के बीच में (मनः) (युञ्जते) अपने मन को ठीक २ युक्त करते हैं, तथा (उत०) (धियः) अपनी बुद्धिवृत्ति अर्थात् ज्ञान को भी (युञ्जते०) सदा परमेश्वर ही में स्थिर करते हैं। जो परमेश्वर इस सब जगत् को (विदधे०) धारण और विधान करता है, (वयुनाविदेक इत्) जो सब जीवों के ज्ञानों तथा प्रजा का भी साक्षी है, वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, कि जिससे परे कोई उत्तम पदार्थ नहीं है। (देवस्य) उस देव अर्थात् सब जगत् के प्रकाश और (सवितुः) सब की रचना करनेवाले परमेश्वर की (परिष्टुतिः) हम लोग सब प्रकार से स्तुति करें। कैसी वह स्तुति है कि (मही) सब से बड़ी, अर्थात् जिस के समान किसी दूसरे की हो ही नहीं सकती ॥ १ ॥ (युञ्जानः) योग को करने वाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये, (प्रथमम्) (मनः) जब अपने मन को पहिले परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब (सविता) परमेश्वर उनकी (धियम्) बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। (अग्नेर्ज्यो०) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (अध्याभरत्) यथावत् धारण करते हैं। (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है ॥ २ ॥ सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि (वयम्) हम लोग (स्वर्ग्याय) मोक्षसुख के लिये, (शक्त्या) यथायोग्य सामर्थ्य के बल से, (देवस्य) परमेश्वर की सृष्टि में उपासनायोग करके, अपने आत्मा को शुद्ध करें, कि जिससे (युक्तेन मनसा) अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाशरूप आनन्द को प्राप्त हों ॥ ३ ॥ इसी प्रकार वह परमेश्वर देव भी (देवान्) उपासकों को (स्वर्यतो धिया दिवम्) अत्यन्त सुख को दे के (सविता) उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्दस्वरूप प्रकाश को करता है। तथा (युक्त्वाय) वही अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उनको युक्त करके उनके आत्माओं में (बृहज्ज्योतिः) बड़े प्रकाश को प्रकट करता है। और (सविता) जो सब जगत् का पिता है वही (प्रसुवा०) उन उपासकों को ज्ञान और आनन्दादि से परि-

पूर्ण कर देता है। परन्तु (करिष्यतः) जो मनुष्य सत्य प्रेम भक्ति से परमेश्वर की उपासना करेंगे उन्हीं उपासकों को परमकृपामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोक्षसुख देके सदा के लिये आनन्दयुक्त करदेगा ॥ ४ ॥ उपासना का उपदेश देनेवाले और ग्रहण करनेवाले दोनों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि जब तुम (पूर्व्यम्) सनातन ब्रह्म की (नमोभिः) सत्यप्रेमभाव से अपने आत्मा को स्थिर करके नमस्कारादि रीति से उपासना करोगे तब मैं तुम को आशीर्वाद देऊंगा कि (श्लोकः) सत्यकीर्ति (वां) तुम दोनों को (एतु) प्राप्त हो । किसके समान ? (पथ्येव सूरेः) जैसे परम विद्वान् को धर्ममार्ग यथावत् प्राप्त होता है इसी प्रकार तुम को सत्यसेवा से सत्यकीर्ति प्राप्त हो । फिर भी मैं सब को उपदेश करता हूं कि (अमृतस्य पुत्राः) हे मोक्षमार्ग के पालन करनेवाले मनुष्यो ! (शृणवन्तु विश्वे) तुम सब लोग सुनो कि (आये धामानि०) जो दिव्यलोकों अर्थात् मोक्षसुखों को (आतस्थुः) पूर्व प्राप्त हो चुके हैं उसी उपासनायोग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त हो । इसमें संदेह मत करो । इसलिये (युजे) मैं तुम को उपासनायोग में युक्त करता हूं ॥ ५ ॥

सीरा॑ युञ्जन्ति क॒वयो॑ यु॒गा वित॑न्वते॒ पृथ॑क् । धीरा॑ दे॒वेषु॑ सुम्न॒या ॥ ६ ॥ यु॒नक्त॒ सीरा॒ वि यु॒गा त॑नुध्वं कृ॒ते योनौ॑ वपते॒ह बीज॑म् । गि॒रा च॑ श्रु॒ष्टिः सभ॑रा॒ अस॑न्नो॒ नेदी॑य॒ इत्सृ॒ण्यः॑ प॒क्वमेया॑त् ॥ ७ ॥ य० अ० १२ । मं० ६७ । ६८ ॥

भाष्यम्

(कवयः) विद्वांसः क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञा वा, (धीराः) ध्यानवन्तो योगिनः, (पृथक्) विभागेन (सीराः) योगाभ्यासोपासनार्थं नाडीर्युञ्जन्ति, अर्थात् तासु परमात्मानं ज्ञातुमभ्यस्यन्ति, तथा (युगा) युगानि योगयुक्तानि कर्माणि (वितन्वते) विस्तारयन्ति । य एवं कुर्वन्ति ते (देवेषु) विद्वत्सु योगिषु (सुम्नया) सुखेनैव स्थित्वा परमानन्दं युञ्जन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥ हे योगिनो ! यूयं योगाभ्यासोपासनेन परमात्मयोगेनानन्दं (युनक्त) तद्युक्ता भवत, एवं मोक्षसुखं सदा (वितनुध्वं) विस्तारयत, तथा (युगा०) उपासनायुक्तानि कर्माणि (सीराः) प्राणादित्ययुक्ता नाडीश्च युनक्तोपासनाकर्माणि योजयत । एवं (कृते योनौ) अन्तःकरणे शुद्धे कृते परमानन्दयोनौ कारणे आत्मनि (वपतेह बीजम्) उपासनाविधानेन योगोपासनाया विज्ञानाख्यं बीजं वपत,

तथा (गिरा च) वेदवाण्या विद्यया (युनक्त) युङ्क्त, युक्ता भवत, किं च (श्रुष्टिः) क्षिप्रं शीघ्रं योगफलं (नो नेदीयः) नोऽस्मान्नेदीयोतिशयेन निकटं परमेश्वरानुग्रहेण (असत्) अस्तु, कथंभूतं फलं ? (पक्कं) शुद्धानन्दसिद्धं (एयात्) आ समन्तादियात् प्राप्नुयात्, (इत्सृण्यः) उपासनायुक्तास्ता योगवृत्तयः सृण्यः सर्वक्लेशहन्त्र्य एव भवन्ति । इदिति निश्चयार्थे । पुनः कथंभूतास्ताः ? (सभराः) शान्त्यादिगुणपुष्टाः । एताभिर्वृत्तिभिः परमात्मयोगं वितनुध्वम् ॥७॥

अत्र प्रमाणम् । श्रुष्टीति क्षिप्रनामाशु अष्टीति ॥ निरु० अ० ६ । खं० १२। द्विविधा सृणिर्भवति भर्त्ता च हन्ता च ॥ निरु० अ० १३ । खं० ५ ॥

भाषार्थ

(कवयः) जो विद्वान् योगी लोग और (धीराः) ध्यान करने वाले हैं वे (सीरा युञ्जन्ति) (पृथक्) यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं । (युगा) जो योगयुक्त कर्म्मों में तत्पर रहते हैं, (वितन्वते) अपने ज्ञान और आनन्द को सदा विस्तृत करते हैं (देवेषु सुम्नया) वे विद्वानों के बीच में प्रशंसित होके परमानन्द को प्राप्त होते हैं ।। ६ ।। हे उपासक लोगो ! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द को (वितनुध्वं०) विस्तार करो। इस प्रकार करने से (कृते योनौ) योनि अर्थात् अपने अन्तःकरण को शुद्ध और परमानन्द-स्वरूप परमेश्वर में स्थिर करके उसमें उपासनाविधान से विज्ञानरूप (बीजं) बीज को (वपत) अच्छी प्रकार से बोओ । तथा (गिरा च) पूर्वोक्त प्रकार से वेदवाणी करके परमात्मा में (युनक्त) युक्त होकर उस की स्तुति प्रार्थना और उपासना में प्रवृत्ति करो । तथा (श्रुष्टिः) तुम लोग ऐसी इच्छा करो कि हम उपासनायोग के फल को प्राप्त होवें । और (नो नेदीयः) हम को ईश्वर के अनुग्रह से वह फल (असत्) शीघ्र ही प्राप्त हो । कैसा वह फल है कि (पक्वं) जो परिपक्व शुद्ध परम आनन्द से भरा हुआ और मोक्षसुख को प्राप्त करने वाला है । (इत्सृण्यः) अर्थात् वह उपासनायोगवृत्ति कैसी है कि सब क्लेशों को नाश करने वाली और (सभराः) सब शांति आदि गुणों से पूर्ण है । उन उपासनायोगवृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने आत्मा में प्रकाशित करो ।। ७ ।।

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सहयोगं भजन्तु मे । योगं प्रपद्ये क्षेमं च क्षेमं प्रपद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥ ८ ॥ अथर्व०

कांड १९ । अनु० १ । सू० ८ ॥ मं० २ ॥ भूयानरात्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ ९ ॥ नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ १० ॥ अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ११ ॥ अथर्व० १३४ । ४७--४९ ॥

भाष्यम्

(अष्टाविंशानि०) हे परमेश्वर भगवन् ! कृपयाऽष्टाविंशानि, (शिवानि०) कल्याणानि कल्याणकारकाणि सन्त्वर्थाद्दशेन्द्रियाणि, दश प्राणा, मनोबुद्धिचित्ताहंकारविद्यास्वभावशरीरबलं चेति, (शग्मानि०) सुखकारकाणि भूत्वा (अहोरात्राभ्यां) दिवसे रात्रौ चोपासनाव्यवहारं योगं (मे) मम (भजन्तु) सेवन्तां, तथा भवत्कृपयाऽहं (योगं प्र०) प्राप्य (क्षेमं च), (प्रपद्ये) क्षेमं प्राप्य, योगं च प्रपद्ये । यतोऽस्माकं सहायकारी भवान् भवदेतदर्थं सततं नमोस्तु ते ॥ ८ ॥ इमे वक्ष्यमाणाश्च मन्त्रा अथर्ववेदस्य सन्तीति बोध्यम् । (इन्द्र०) हे इन्द्र परमेश्वर ! त्वं (शच्याः) प्रजाया वाण्याः कर्मणो वा पतिरसि, तथा (भूयान्) सर्वशक्तिमत्त्वात् सर्वोत्कृष्टत्वादातिशेयन बहुरसि, तथा (अरात्याः) शत्रुभूताया वाण्यास्तादृशस्य कर्मणो वा शत्रुरर्थाद्भूयान्निवारकोसि, (विभूः) व्यापकः (प्रभूः) समर्थश्चासि, (इति) अनेन प्रकारेणैवंभूतं (त्वा) त्वां (वयम्) सदैव (उपास्महे) अर्थात्तवैवोपासनं कुर्मह इति ॥ ९ ॥ अत्र प्रमाणम् । वाचो नामसु शचीति पठितम् ॥ निघं० अ० १ । खं० ११ ॥ तथा कर्मणां नामसु शचीति पठितम् ॥ निघं० अ० २ । खं० १ ॥ तथा प्रज्ञानामसु शचीति पठितम् ॥ निघं० अ० ३ । खं० ९ ॥ ईश्वरोऽभिवदति हे मनुष्याः ! यूयमुपासनारीत्या सदैव (मा) मां (पश्यत) सम्यग् ज्ञात्वा चरत, उपासक एवं जानीयाद्वदेच्च हे परमेश्वरानन्तविद्यायुक्त ! (नमस्ते अस्तु) ते तुभ्यमस्माकं सततं नमोस्तु भवतु ॥ १० ॥ (अन्नाद्येन) कस्मै प्रयोजनायान्नादिराज्यैश्वर्य्येण, (यशसा) सर्वोत्तमसत्कर्मानुष्ठानोद्भूतसत्यकीर्त्या, (तेजसा) निर्दीनतया प्रागल्भ्येण च, (ब्राह्मणवर्चसेन) पूर्णविद्यया सह वर्त्तमानानस्मान् हे परमेश्वर ! त्वं कृपया सदैव (पश्य) संप्रेक्षस्वैतदर्थं वयं (त्वां) सर्वदोपास्महे ॥ ११ ॥

भाषार्थ

(अष्टाविंशानि शिवानि) हे परमैश्वर्य्ययुक्त मङ्गलमय परमेश्वर ! आप की कृपा

से मुझको उपासनायोग प्राप्त हो, तथा उस से मुझको सुख भी मिले । इसी प्रकार आप की कृपा से दश इन्द्रिय, दश प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, विद्या, स्वभाव, शरीर और बल, ये अट्ठाईस सब कल्याणों में प्रवृत्त होके उपासनायोग को सदा सेवन करें । तथा हम भी (योगं) उस योग के द्वारा (क्षेमं) रक्षा को, और रक्षा से योग को प्राप्त हुआ चाहते हैं । इसलिये हम लोग रात दिन आप को नमस्कार करते हैं ॥ ८ ॥ (भूयानरात्याः) हे जगदीश्वर ! आप (शच्याः) सब प्रज्ञा, वाणी और कर्म इन तीनों के पति हैं । तथा (भूयान्) सर्वशक्तिमान आदि विशेषणों से युक्त हैं । जिससे आप (अरात्याः) अर्थात् दुष्टप्रजा, मिथ्यारूपवाणी और पापकर्मों को विनाश करने में अत्यन्त समर्थ हैं । तथा आप को (विभूः) सब में व्यापक और (प्रभूः) सब सामर्थ्य वाले जान के हम लोग आपकी उपासना करते हैं ॥ ९ ॥ (नमस्ते अस्तु) अर्थात् परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि हे उपासक लोगो ! तुम मुझ को प्रेमभाव से अपने आत्मा में सदा देखते रहो । तथा मेरी आज्ञा और वेदविद्या को यथावत जान के उसी रीति से आचरण करो । फिर मनुष्य भी ईश्वर से प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर ! आप कृपादृष्टि से (पश्यमा) हम को सदा देखिये । इसलिये हम लोग आप को सदा नमस्कार करते हैं ॥ १० ॥ कि (अन्नाद्येन) अन्न आदि ऐश्वर्य्य, (यशसा) सब से उत्तम कीर्त्ति, (तेजसा) भय से रहित, (ब्राह्मणवर्चसेन) और सम्पूर्ण विद्या से युक्त हम लोगों को करके कृपा से देखिये । इसलिये हम लोग सदा आप की उपासना करते हैं ॥ ११ ॥

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १२ ॥ अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १३ ॥ उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १४ ॥ प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १५ ॥ अथर्व० कां० १३ । अनु० ४ । मं० ५० । ५१ । ५२ । ५३ ॥

भाष्यम्

(हे ब्रह्मन्) (अम्भः) व्यापकं, शान्तस्वरूपं, जलवत् प्राणस्यापि प्राणम् । आप्लृ धातोरसुन्प्रत्ययान्तस्यायं प्रयोगः । (अमः) ज्ञानस्वरूपम्, (महः) पूज्यं सर्वेभ्यो महत्तरं, (सहः) सहनस्वभावं ब्रह्म (त्वा) त्वां ज्ञात्वा (इति) अनेन प्रकारेण (वयं) सततं उपास्महे ॥ १२ ॥ (अम्भः) आदरार्थो द्विरारम्भः । अस्यार्थ उक्तः । (अरुणम्) प्रकाशस्वरूपम्, (रजतम्) रागविषयमा-

नन्दस्वरूपम्, (रजः) सर्वलोकैश्वर्य्यसहितम्, (सहः) सहनशक्तिप्रदम् (इति त्वोपास्महे वयम्) त्वां विहाय नैव कश्चिदन्योऽर्थः कस्यचिदुपास्योऽस्तीति ॥१३॥ (उरुः) सर्वशक्तिमान्, (पृथुः) अतीव विस्तृतो व्यापकः (सुभूर्भुवः) सुष्ठुतया सर्वेषु पदार्थेषु भवतीति सुभूः, अन्तरिक्षवदवकाशरूपत्वाद्भुवः (इति) एवं ज्ञात्वा (त्वा०) त्वां (उपास्महे वयम्) ॥ १४ ॥ बहुनामसु उरुरिति प्रत्यक्षमस्ति ॥ निघण्टु अ० ३ । खं० १ ॥ (प्रथः) सर्वजगत्प्रसारकः (वरः) श्रेष्ठः, (व्यचः) विविधतया सर्वं जगज्जानातीति, (लोकः) लोक्यते सर्वैर्जनैर्लोकयति सर्वान् वा (इति त्वो०) वयमीदृक्स्वरूपं सर्वज्ञं त्वामुपास्महे ॥ १५ ॥

भाषार्थ

(अम्भो) हे भगवन् ! आप सब में व्यापक, शान्तस्वरूप और प्राण के भी प्राण हैं । तथा (अमः) ज्ञानस्वरूप और ज्ञान को देने वाले हैं । (महः) सब के पूज्य, सब के बड़े और (सहः) सब के सहन करने वाले हैं । (इति) इस प्रकार का (त्वो०) आप को जान के (वयम्) हम लोग सदा उपासना करते हैं ॥१२॥ (अम्भः) (दूसरी वार इस शब्द का पाठ केवल आदर के लिये है) (अरुणम्) आप प्रकाशस्वरूप सब दुःखों के नाश करने वाले, तथा (रजतम्) प्रीति का परम हेतु आनन्दस्वरूप, (रजः) सब लोकों के ऐश्वर्य्य से युक्त, (सहः) (इस शब्द का भी पाठ आदरार्थ है) और शहनशक्तिवाले हैं । इसलिये हम लोग आप की उपासना निरन्तर करते हैं ॥ १३ ॥ (उरु०) आप सब बल वाले, (पृथुः) अर्थात् आदि अन्त रहित, तथा (सुभूः) सब पदार्थों में अच्छे प्रकार से वर्त्तमान, और (भुवः) अवकाशस्वरूप से सब के निवासस्थान हैं । इस कारण हम लोग उपासना करके आप के ही आश्रित रहते हैं ॥ १४ ॥ (प्रथो वरो०) हे परमात्मन् ! आप सब जगत् में प्रसिद्ध और उत्तम हैं । (व्यचः) अर्थात् सब प्रकार से इस जगत् का धारण, पालन और वियोग करने वाले तथा (लोकः) सब विद्वानों के देखने अर्थात् जानने के योग्य केवल आप ही हैं, दूसरा कोई नहीं ॥ १५ ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १६ ॥ ऋ० अ० १ । अ० १ । व० ११ । मं० १ ॥

भाष्यम्

(युञ्जन्ति) ये योगिनो विद्वांसः, (परितस्थुषः) परितः सर्वतः

सर्वान् जगत्पदार्थान् मनुष्यान्वा चरन्तं ज्ञातारं सर्वज्ञं (अरुषं) अहिंसकं करुणामयम् (रुष हिंसायाम्) (ब्रध्नं) विद्यायोगाभ्यासप्रेमभरेण सर्वानन्दवर्धकं महान्तं परमेश्वरमात्मना सह युञ्जन्ति, (रोचनाः) त आनन्दे प्रकाशिता रुचिमया भूत्वा (दिवि) द्योतनात्मके सर्वप्रकाशके परमेश्वरे (रोचन्ते) परमानन्दयोगेन प्रकाशन्ते । इति प्रथमोऽर्थः । अथ द्वितीयः । (परित०) चरन्तमरुषमग्निमयं ब्रध्नमादित्यं सर्वे लोकाः पदार्थाश्च (युञ्जन्ति) तदाकर्षणेन युक्ताः सन्ति । एते सर्वे तस्यैव (दिवि) प्रकाशे (रोचनाः) रुचिकराः सन्तः (रोचन्ते) प्रकाशन्ते । इति द्वितीयोर्थः । अथ तृतीयः । य उपासकाः परितस्थुषः सर्वान् पदार्थान् चरन्तमरुषं सर्वमर्मस्थं (ब्रध्नं) सर्वावयववृद्धिकरं प्राणमादित्यं प्राणायामरीत्या (दिवि) द्योतनात्मके परमेश्वरे वर्त्तमानं (रोचनाः) रुचिमन्तः सन्तो युञ्जन्ति युक्तं कुर्वन्ति । अतस्ते तस्मिन् मोक्षानन्दे परमेश्वरे रोचन्ते सदैव प्रकाशन्ते ॥ १६ ॥ अत्र प्रमाणानि ॥ मनुष्यनामसु तस्थुषः पञ्चजना इति पठितम् ॥ निघं० अ० २ । खं० ३ ॥ महत्, ब्रध्न, महन्नामसु पठितम् ॥ निघं० अ० ३ । खं० ३ ॥ तथा युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तमिति । असौ वा आदित्यो ब्रध्नोऽरुषोऽमुमेवास्मा आदित्यं युनक्ति स्वर्गस्य लोकस्य समृष्ट्यै ॥ १ ॥ श० कां० १३ । अ० २ ॥ आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा, रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्त्तं चामूर्त्तं च, तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः ॥ १ ॥ प्रश्नोपनि० प्रश्न० १ । मं० ५ ॥ परमेश्वरात् महान् कश्चिदपि पदार्थो नास्त्येवातः प्रथमेऽर्थे योजनीयम् । तथा शतपथप्रमाणं द्वितीयमर्थं प्रति ॥ एवमेव प्रश्नोपनिषत्प्रमाणं तृतीयमर्थं प्रति च । क्वचिन्निघण्टावश्वस्यापि ब्रध्नारुषौ नाम्नी पठिते । परन्त्वास्मिन् मन्त्रे तद्घटना नैव सम्भवति, शतपथादिव्याख्यानविरोधात्, मूलार्थविरोधादेकशब्देनाप्यनेकार्थग्रहणाच्च । एवं सति भट्टमोक्षमूलरैर्ऋग्वेदस्येङ्गलेण्डभाषया व्याख्याने यदश्वस्य पशोरेव ग्रहणं कृतं तद्भ्रान्तिमूलमेवास्ति । सायणाचार्य्येणास्य मन्त्रस्य व्याख्यायामादित्यग्रहणादेकस्मिन्नंशे तस्य व्याख्यानं सम्यक्कृतमस्ति, परन्तु न जाने भट्टमोक्षमूलरेणायमर्थ आकाशाद्वा पातालाद् गृहीतः । अतो विज्ञायते स्वकल्पनया लेखनं कृतमिति ज्ञात्वा प्रमाणार्हं नास्तीति ।

भाषार्थ

(युञ्जन्ति) मुक्ति का उत्तम साधन उपासना है । इसलिये जो विद्वान् लोग हैं वे सब जगत् और सब मनुष्यों के हृदयों में व्याप्त ईश्वर को उपासनारीति से अपने

आत्मा के साथ युक्त करते हैं। वह ईश्वर कैसा है कि (चरन्तं) अर्थात् सब का जाननेवाला, (अरुषं) हिंसादि दोषरहित, कृपा का समुद्र, (ब्रध्नं) सब आनन्दों का बढ़ाने वाला, सब रीति से बड़ा है। इसी से (रोचनाः) अर्थात् उपासकों के आत्मा, सब अविद्यादि दोषों के अन्धकार से छूटके, (दिवि) आत्माओं को प्रकाशित करने वाले परमेश्वर में प्रकाशमय होकर (रोचन्ते) प्रकाशित रहते हैं ॥ इति प्रथमोर्थः ॥ अब दूसरा अर्थ करते हैं, कि (परितस्थुषः) जो सूर्यलोक अपनी किरणों से सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों के प्रकाश और आकर्षण करने में (ब्रध्नं) सब से बड़ा और (अरुषं) रक्तगुणयुक्त है, और जिस के आकर्षण के साथ सब लोक युक्त हो रहे हैं, (रोचनाः) जिस के प्रकाश से सब पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं, विद्वान लोग उसी को सब लोकों के आकर्षयुक्त जानते हैं ॥ इति द्वितीयोऽर्थः ॥ (युञ्जन्ति) इस मन्त्र का और तीसरा यह भी अर्थ है कि सब पदार्थों की सिद्धि का मुख्य हेतु जो प्राण है, उस को प्राणायाम की रीति से, अत्यन्त प्रीति के साथ परमात्मा में युक्त करते हैं। इसी कारण वे लोग मोक्ष को प्राप्त हो के सदा आनन्द में रहते हैं। इन तीनों अर्थों में निघण्टु आदि के प्रमाण भाष्य में लिखे हैं, सो देख लेना ॥ १६॥ इस मन्त्र के इन अर्थों को नहीं जान के भट्ट मोक्षमूलर साहब ने घोड़े का जो अर्थ किया है सो ठीक नहीं है। यद्यपि सायणाचार्य्य का अर्थ भी यथावत् नहीं है, परन्तु मोक्षमूलर साहब के अर्थ से तो अच्छा ही है, क्योंकि प्रोफेसर मोक्षमूलर साहब ने इस अर्थ में केवल कपोल कल्पना की है।

इदानीमुपासना कथंरीत्या कर्त्तव्येति लिख्यते। तत्र शुद्ध एकान्तेऽभीष्टे देशे शुद्धमानसः समाहितो भूत्वा, सर्वाणीन्द्रियाणि, मनश्चैकाग्रीकृत्य, सच्चिदानन्दस्वरूपमन्तर्यामिनं न्यायकारिणं परमात्मानं सञ्चिन्त्य तत्रात्मानं नियोज्य च, तस्यैव स्तुतिप्रार्थनानुष्ठाने सम्यक्कृत्वोपासनयेश्वरे पुनः २ स्वात्मानं संलगयेत्। अत्र पतञ्जलिमहामुनिना स्वकृतसूत्रेषु वेदव्यासकृतभाष्ये चायमनुक्रमो योगशास्त्रे प्रदर्शितः। तद्यथा-योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १ ॥ अ० १। सू० २ ॥ उपासनासमये व्यवहारसमये वा परमेश्वरादतिरिक्तविषयादधर्मव्यवहाराच्च मनसो वृत्तिः सदैव निरुद्धा रक्षणीयेति। निरुद्धा सती सा क्वावतिष्ठत इत्यत्रोच्यते ॥ १ ॥ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ २ ॥ अ० १। पा० १ ॥ सू० ३ ॥ यदा सर्वस्माद्व्यवहारान्मनोऽवरुध्यते तदास्योपासकस्य मनो द्रष्टुः

सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य स्वरूपे स्थितिं लभते ॥ २ ॥ यदोपासको योग्युपासनां विहाय सांसारिकव्यवहारे प्रवर्त्तते तदा सांसारिकजनवत्तस्यापि प्रवृत्तिर्भवत्याहोस्विद्विलक्षणेत्यत्राह ॥ वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ३ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ४ ॥ इतरत्र सांसारिकव्यवहारे प्रवृत्तेऽप्युपासकस्य योगिनः शान्ता धर्मारूढा विद्याविज्ञानप्रकाशा सत्यतत्त्वनिष्ठाऽतीवतीव्रा साधारणमनुष्यविलक्षणाऽपूर्वैव वृत्तिर्भवतीति । नैवेदृश्यनुपासकानामयोगिनां कदाचिद्वृत्तिर्जायत इति ॥ ३ ॥ कति वृत्तयः सन्ति कथं निरोद्धव्या इत्यत्राह । वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ४ ॥ प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ५ ॥ तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ६ ॥ विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ७ ॥ शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ८ ॥ अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ ९ ॥ अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ १० ॥ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ ११ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ५ । ६ । ७ । ८ । ९ । १० । ११ । १२ ॥ उपासनायाः सिद्धेः सहायकारि परमं साधनं किमस्तीत्यत्रोच्यते ॥ ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ १२ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २३ ॥ भा० प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण, तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलञ्च भवतीति ॥ १२ ॥

भाषार्थ

अब जिस रीति से उपासना करनी चाहिये सो आगे लिखते हैं । जब २ मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना करना चाहें तब २ इच्छा के अनुकूल एकान्त स्थान में बैठकर अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर करें । तथा सब इन्द्रिय और मन को सच्चिदानन्दादि लक्षण वाले अन्तर्यामी अर्थात् सब में व्यापक और न्यायकारी परमात्मा की ओर अच्छी प्रकार से लगाकर, सम्यक् चिन्तन करके, उस में अपने आत्मा को नियुक्त करें । फिर उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना को वारंवार करके अपने आत्मा को भलीभांति से उसमें लगा दें । इस की रीति पतञ्जलि मुनि के किये योगशास्त्र और उन्हीं सूत्रों के वेदव्यासमुनिजी के किये भाष्य के प्रमाणों से लिखते हैं । (योगश्चित्त०) चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटा के शुभ गुणों में स्थिर करके, परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को योग कहते हैं । और वियोग उसको कहते हैं कि परमेश्वर और उस की आज्ञा से विरुद्ध बुरा-

इयों में फंस के उस से दूर हो जाना। (प्रश्न) जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटा के स्थिर की जाती है तब कहां पर स्थिर होती है ? इस का उत्तर यह है कि ॥ १ ॥ (तदा द्र०) जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से दृढ़ बांध के रोक देते हैं तब वह जिस ओर नीचा होता है उस ओर चल के कहीं स्थिर हो जाता है, इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से रुकती है तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है। एक तो चित्त की वृत्ति के रोकने का यह प्रयोजन है और दूसरा यह है कि ॥ २ ॥ (वृत्तिसा०) उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्षशोकरहित, आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्षशोकरूप दुःखसागर में ही डूबी रहती है। उपासक योगी की तो ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अन्धकार में फँसती जाती है ॥ ३ ॥ (वृत्तयः०) अर्थात् सब जीवों के मन में पांच प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है। उस के दो भेद हैं, एक क्लिष्ट दूसरी अक्लिष्ट, अर्थात् क्लेशसहित और क्लेशरहित। उनमें से जिनकी वृत्ति विषयासक्त, परमेश्वर की उपासना से विमुख होती है, उन की वृत्ति अविद्यादि क्लेशसहित और जो पूर्वोक्त उपासक हैं उनकी क्लेशरहित शांत होती हैं ॥४॥ वे पांच वृत्ति ये हैं—पहिली (प्रमाण), दूसरी (विपर्य्यय), तीसरी (विकल्प), चौथी (निद्रा) और पांचवीं (स्मृति) ॥ ५ ॥ उनके विभाग और लक्षण ये हैं, (तत्र प्रत्यक्षा०)। इसकी व्याख्या वेद विषय के होमप्रकरण में लिख दी है ॥ ६ ॥ (विपर्य्ययो०) दूसरी विपर्य्यय कि जिससे मिथ्याज्ञान हो। अर्थात् जैसे को तैसा न जानना। अथवा अन्य में अन्य की भावना कर लेना, इस को विपर्य्यय कहते हैं ॥ ७ ॥ तीसरी विकल्पवृत्ति (शब्दज्ञाना०), जैसे किसी ने किसी से कहा कि एक देश में हमने आदमी के शिर पर सींग देखे थे। इस बात को सुन के कोई मनुष्य निश्चय करले कि ठीक है सींग वाले मनुष्य भी होते होंगे। ऐसी वृत्ति को विकल्प कहते हैं। सो झूठी बात है अर्थात् जिस का शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके इसी से इस का नाम विकल्प है ॥ ८ ॥ चौथी (निद्रा), अर्थात् जो वृत्ति अज्ञान और अविद्या के अन्धकार में फँसी हो उस वृत्ति का नाम निद्रा है। पांचवीं (स्मृति), (अनुभूत०) अर्थात् जिस व्यवहार वा वस्तु को प्रत्यक्ष देख लिया हो उसी का संस्कार ज्ञान में बना रहता और उस विषय को

(अप्रमोष) भूले नहीं, इस प्रकार की वृत्ति को स्मृति कहते हैं । इन पांच वृत्तियों को बुरे कामों और अनीश्वर के ध्यान से हटाने का उपाय कहते हैं कि ॥ १० ॥ (अभ्यास०) जैसा अभ्यास उपासना प्रकरण में आगे लिखेंगे वैसा करें और वैराग्य अर्थात् सब बुरे कामों और दोषों से अलग रहें । इन दोनों उपायों से पूर्वोक्त पांच वृत्तियों को रोक के उन को उपासनायोग में प्रवृत्त रखना ॥ ११ ॥ तथा उस समाधि के योग होने का यह भी साधन है कि (ईश्वरप्र०), ईश्वर में विशेष भक्ति होने से मन का समाधान होके मनुष्य समाधियोग को शीघ्र प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥

अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति ? । क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ १३ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २४ ॥ भा० अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाक,स्तदनुगुणा वासना आशयास्ते च मनसि वर्त्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति, यथा जयः पराजयो व योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते, यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः । कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः ? ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः । ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी । यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य । यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य । स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति । योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति ? । तस्य शास्त्रं निमित्तम् । शास्त्रं पुनः किं निमित्तम् ? । प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम् । एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिः सम्बन्धः । एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति । तच्च तस्यैश्वर्य्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तं, न तावदैश्वर्य्यान्तरेण तदतिशय्यते, यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात्तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्य्यस्य स ईश्वरः । न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति । कस्मात् । द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत् कामितेऽर्थे, नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्विति, एकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तं, द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत् कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति, अर्थस्य विरुद्धत्वात्तस्माद्यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्य्यं स ईश्वरः, स च पुरुषविशेष इति । किं च ॥ १३ ॥ तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ १४ ॥ अ० १ । पा० १ । सूत्र २५ ॥ भा० यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीज,मेतद्विवर्धमानं यत्र

निरतिशयं स सर्वज्ञः । अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य, सातिशयत्वात्परिमाणव-दिति । यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः, स च पुरुषविशेष इति । सामान्यमात्रोपसंहारे कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्य्यन्वेष्या । तस्यात्मानुग्रहाभावेपि भूतानुग्रहः प्रयोजनं, ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति । तथा चोक्तम् । आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति ॥ १४ ॥ स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ १५ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २६ ॥ भा० पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छेद्यन्ते, यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्त्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः, यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धः तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥ १५ ॥ तस्य वाचकः प्रणवः ॥ १६ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २७ ॥ भा० वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य । किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति ? स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः । संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति । यथावस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनावद्योत्यते, अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति । सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते । संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते । विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः ॥ १ ॥ तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ १७ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २८ ॥ भा० प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावना । तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते । तथा चोक्तम् । स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् । स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशत इति ॥ १७ ॥

भाषार्थ

अब ईश्वर का लक्षण कहते हैं कि (क्लेशकर्म०) । अर्थात् इसी प्रकरण में आगे लिखे हैं जो अविद्यादि पांच क्लेश और अच्छे बुरे कर्मों की जो २ वासना इन सब से जो सदा अलग और बन्धरहित है उसी पूर्ण पुरुष को ईश्वर कहते हैं । फिर वह कैसा है जिससे अधिक वा तुल्य दूसरा पदार्थ कोई नहीं, तथा जो सदा आनन्दज्ञानस्वरूप, सर्वशक्तिमान् है उसी को ईश्वर कहते हैं । क्योंकि ॥ १३ ॥ (तत्र

निरति०) जिस में नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है वही ईश्वर है । जिसके ज्ञानादि गुण अनन्त हैं, जो ज्ञानादि गुणों की पराकाष्ठा है, जिसके सामर्थ्य की अवधि नहीं । और जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है । इसलिये सब जीवों को उचित है कि अपने ज्ञान बढ़ाने के लिये सदैव परमेश्वर की उपासना करते रहें ॥ १४ ॥ अब उस की भक्ति किस प्रकार से करनी चाहिये सो आगे लिखते हैं । (तस्य वा०) जो ईश्वर का ओंकार नाम है सो पिता पुत्र के सम्बन्ध के समान है और यह नाम ईश्वर को छोड़ के दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता । ईश्वर के जितने नाम हैं उनमें से ओंकार सब से उत्तम नाम है । इसलिये ॥ १५ ॥ (तज्जप०) इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थविचार सदा करना चाहिये कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो, जिससे उस के हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेमभक्ति सदा बढ़ती जाय । फिर उससे उपासकों को यह भी फल होता है कि ॥ १६ ॥

किंचास्य भवति ? । ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ १७ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० २६ ॥ भा० ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति । स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति । यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवल अनुपसर्गः, तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदीयः पुरुष इत्येवमधिगच्छति ॥ अथ केऽन्तरायाः ये चित्तस्य विक्षेपकाः ? के पुनस्ते कियन्तो वेति ? ॥ १८ ॥ व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ १६ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ३० ॥ भा० नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः, सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्त्येतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः । व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्, स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य, संशय उभयकोटिस्पृक् विज्ञानं स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति । प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम्, आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः । अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्द्धः । भ्रान्तिदर्शनं विपर्य्ययज्ञानम् । अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः । अनवस्थितत्त्वं यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा, समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति । एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते ॥ १६ ॥ दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ १६ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ३१ ॥ भा० दुःखमा-

ध्यात्मिकं, आधिभौतिकं, आधिदैविकं च । येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम् । दौर्मनस्यम् इच्छाभिघाताच्चेतसः क्षोभः । यदङ्गान्येजयति कंपयति तदङ्गमेजयत्वम् । प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः । यत्कौष्ठ्यं वायुं निस्सारयति स प्रश्वासः । विक्षेपसहभुवः । विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति । अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षाः ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः । तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निद-माह ॥ १६ ॥ तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ २० ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ३२ ॥ भा० विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनं चित्तमभ्यस्येत् । यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं, नास्त्येव विक्षिप्तम् । यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येका-ग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतम् । योपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते, तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मः, तदेकं नास्ति प्रवाहचित्तं क्षणिकत्वात् । अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः, स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्य-यप्रवाही वा, प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः । तस्मादेकम-नेकार्थमवस्थितं चित्तमिति । यदि च चित्तेनैकेनानान्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन्, अथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्त्ता भवेत् । अन्यप्र-त्ययोपचितस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत् । कथञ्चित्समाधीय-मानमप्येतद् गोमयपायसीयं न्यायमाक्षिपति । किंच स्वात्मानुभवापह्नवः चित्त-स्यान्यत्वे प्राप्नोति । कथम् ? यदहमद्राक्षं तत् स्पृशामि, यच्चास्प्राक्षं तत्पश्यामीति । अहमिति प्रत्ययः कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्त्तमानः सामान्यमेकं प्रत्ययिनमा-श्रयेत् । स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्मा अहमिति प्रत्ययः । नच प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते । प्रमाणान्तरञ्च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम् । यस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम् ? ॥ २० ॥

भाषार्थ

इस मनुष्य को क्या होता है ? । (ततः प्र०) अर्थात् उस अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति और (अन्तराय) उस के अविद्यादि क्लेशों तथा रोगरूप विघ्नों का नाश हो जाता है । वे विघ्न नव प्रकार के हैं ॥ २७ ॥ (व्याधि) एक व्याधि

अर्थात् धातुओं की विषमता से ज्वर आदि पीड़ा का होना । (दूसरा) स्त्यान अर्थात् सत्य कर्मों में अप्रीति । (तीसरा) संशय अर्थात् जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे उस का यथावत् ज्ञान न होना । (चौथा) प्रमाद अर्थात् समाधिसाधनों के ग्रहण में प्रीति और उनका विचार यथावत् न होना । (पांचवां) आलस्य अर्थात् शरीर और मन में आराम की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ बैठना । (छठा) अविरति अर्थात् विषय सेवा में तृष्णा का होना । (सातवां) भ्रान्तिदर्शन अर्थात् उलटे ज्ञान का होना । जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़बुद्धि करना तथा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वरभाव करके पूजा करना । (आठवां) अलब्धभूमिकत्व अर्थात् समाधि की प्राप्ति न होना । और (नववां) अनवस्थितत्व अर्थात् समाधि की प्राप्ति होने पर भी उस में चित्त स्थिर न होना । ये सब चित्त की समाधि होने में विक्षेप अर्थात् उपासनायोग के शत्रु हैं ॥ १९ ॥ अब इन के फल लिखते हैं (दुःखदौर्म०) । अर्थात् दुःख की प्राप्ति, मनका दुष्ट होना, शरीर के अवयवों का कम्पना, श्वास और प्रश्वास के अत्यन्त वेग से चलने में अनेक प्रकार के क्लेशों का होना जो कि चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं । ये सब क्लेश अशान्त चित्तवाले को प्राप्त होते हैं शान्तचित्तवाले को नहीं । और उन के छुड़ाने का मुख्य उपाय यही है ॥ २० ॥ कि (तत्प्रतिषेधा०) जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व है उसी में प्रेम और सर्वदा उसी की आज्ञा पालन में पुरुषार्थ करना है वही एक उन विघ्नों के नाश करने को वज्ररूप शस्त्र है अन्य कोई नहीं । इसलिये सब मनुष्यों को अच्छी प्रकार प्रेमभाव से परमेश्वर के उपासनायोग में नित्य पुरुषार्थ करना चाहिये कि जिससे वे सब विघ्न दूर हो जायं । आगे जिस भावना से, उपासना करने वाले को व्यवहार में अपने चित्त को, प्रसन्न करना होता है सो कहते हैं ॥ २० ॥

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ २१ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ३३ ॥ भा० तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्, दुःखितेषु करुणां, पुण्यात्मकेषु मुदितां, अपुण्यशीलेषूपेक्षाम् । एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते । ततश्च चित्तं प्रसीदति । प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥ २१ ॥ प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ २२ ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ३४ ॥ भा० कोष्ठयस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनं, विधारणं प्राणायामः । ताभ्यां वा

मनसः स्थितिं सम्पादयेत् । छर्दनं भक्षितान्नमनवत् प्रयत्नेन शरीरस्थं प्राणं बाह्यदेशं निरसार्य्य यथाशक्ति बहिरेव स्तम्भनेन चित्तस्य स्थिरता सम्पादनीया ॥ २२ ॥ योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २३ ॥ अ० १। पा० २ । सू० २८ ॥ एषामुपासनायोगाङ्गानामनुष्ठानाचरणादशुद्धिरज्ञानं प्रतिदिनं क्षीणं भवति ज्ञानस्य च वृद्धिर्यावन्मोक्षप्राप्तिर्भवति ॥ २३ ॥ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २४ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० २९ ॥ तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ २६ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ३० ॥ भा० तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः । उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते । तदवदातरूपकारणायैवोपादीयन्ते, (तथा चोक्तम्), स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदाभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति । सत्यं, यथार्थे वाङ्मनसे । यथा दृष्टं, यथाऽनुमितं, यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति । परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेत् । इत्येषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता, न भूतोपघाताय । यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैवस्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत् । तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रकृतिरूपकेन कष्टं तमः प्राप्नुयात् । तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् । स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति । ब्रह्मचर्य्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः । विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः । इत्येते यमाः ॥ २४ ॥ एषां विवरणं प्राकृतभाषायां वक्ष्यते ।

भाषार्थ

(मैत्री) अर्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुखी हैं उन सबों के साथ मित्रता करना । दुःखियों पर कृपादृष्टि रखनी । पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता । पापियों के साथ उपेक्षा अर्थात् न उनके साथ प्रीति रखना और न वैर ही करना । इस प्रकार के वर्त्तमान से उपासक के आत्मा में सत्यधर्म का प्रकाश और उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥ (प्रच्छर्दन०) जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे, पुनः धीरे २ भीतर लेके पुनरपि

ऐसे ही करे। इसी प्रकार वारंवार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये। जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आता है फिर गोता लगा जाता है इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में वारंवार मग्न करना चाहिये ॥ २३ ॥ (योगाङ्गानु०) आगे जो उपासनायोग के आठ अङ्ग लिखते हैं जिनके अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥ (यमनियमा०) अर्थात् एक (यम), दूसरा (नियम), तीसरा (आसन), चौथा (प्राणायाम), पांचवां (प्रत्याहार), छठा (धारणा), सातवां (ध्यान) और आठवां (समाधि) ये सब उपासनायोग के अङ्ग कहाते हैं और आठ अङ्गों का सिद्धान्तरूप फल संयम है ॥ २५ ॥ (तत्राहिंसा०) उन आठों में से पहिला यम है। सो पांच प्रकार का है। एक (अहिंसा) अर्थात् सब प्रकार से, सब काल में, सब प्राणियों के साथ, वैर छोड़ के प्रेम प्रीति से वर्त्तना। दूसरा (सत्य) अर्थात् जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा ही सत्य बोले, करे और माने। तीसरा (अस्तेय) अर्थात् पदार्थ वाले की आज्ञा के विना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना, इसी को चोरीत्याग कहते हैं। चौथा (ब्रह्मचर्य्य) अर्थात् विद्या पढ़ने के लिये बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त विवाह का करना, परस्त्री, वेश्या आदि का त्यागना, सदा ऋतुगामी होना, विद्या को ठीक २ पढ़ के सदा पढ़ाते रहना और उपस्थ इन्द्रिय का सदा नियम करना। पांचवां (अपरिग्रह) अर्थात् विषय और अभिमानादि दोषों से रहित होना, इन पांचों का ठीक २ अनुष्ठान करने से उपासना का बीज बोया जाता है। दूसरा, अङ्ग उपासना का नियम है जो कि पांच प्रकार का है ॥ २५ ॥

॥ ते तु ॥ शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ २६ ॥ अ० १। पा० २। सू० ३२॥ शौचं बाह्यमाभ्यन्तरं च। बाह्यं जलादिनाऽऽभ्यन्तरं रागद्वेषाऽसत्यादित्यागेन च कार्यम्। संतोषो, धर्मानुष्ठानेन सम्यक् प्रसन्नता सम्पादनीया। तपः, सदैव धर्मानुष्ठानमेव कर्त्तव्यम्। [स्वाध्यायः]

वेदादिसत्यशास्त्राणामध्ययनाध्यापने प्रणवजपो वा । ईश्वरप्रणिधानम्, परमगुरवे परमेश्वराय सर्वात्मादिद्रव्यसमर्पणमित्युपासनायाः पञ्च नियमा द्वितीयमङ्गम् ॥ २६ ॥ अथाहिंसा धर्मस्य फलम् ॥ अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ २७ ॥ अथ सत्याचरणस्य फलम् ॥ सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ २८ ॥ अथ चौरीत्यागफलम् ॥ अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ २९ ॥ अथ ब्रह्मचर्य्याश्रमानुष्ठानेन यल्लभ्यते तदुच्यते ॥ ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३० ॥ अथापरिग्रहफलमुच्यते ॥ अपरिग्रहस्थैर्य्ये जन्मकथंता संबोधः ॥ ३१ ॥ अथ शौचानुष्ठानफलम् ॥ शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ३२ ॥ किंच सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥३३॥ संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ३४ ॥ कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ३५ ॥ स्वाध्यायादिष्टदेवता संप्रयोगः ॥ ३६ ॥ समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ३७ ॥ योग० अ० १ । पा० १ । सू० ३५ । ३६ । ३७ । ३८ । ३९ । ४० । ४१ । ४२ । ४३ । ४४ । ४५ ॥

भाषार्थ

(पहिला) (शौच) अर्थात् पवित्रता करनी सो भी दो प्रकार की है । एक भीतर की और दूसरी बाहर की । भीतर की शुद्धि धर्माचरण, सत्यभाषण, विद्याभ्यास, सत्सङ्ग आदि शुभगुणों के आचरण से होती है और बाहर की पवित्रता जल आदि से, शरीर स्थान मार्ग वस्त्र खाना पीना आदि शुद्ध करने से होती है । (दूसरा) (सन्तोष) जो सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके प्रसन्न रहना और दुःख में शोकातुर न होना, किन्तु आलस्य का नाम सन्तोष नहीं है । (तीसरा) (तपः) जैसे सोने को अग्नि में तपा के निर्मल कर देते हैं वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभगुणों के आचरणरूप तप से निर्मल कर देना । (चौथा) (स्वाध्याय) अर्थात् मोक्षविद्याविधायक वेद शास्त्र का पढ़ना पढ़ाना और ओंकार के विचार से ईश्वर का निश्चय करना कराना और (पांचवां) (ईश्वरप्रणिधानम्) अर्थात् सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण, आत्मा और मन के प्रेमभाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिये समर्पण करना, ये पांच नियम भी उपासना का दूसरा अङ्ग है । अब पांच यम और पांच नियमों के यथावत् अनुष्ठान का फल कहते हैं ॥ २६ ॥ (अहिंसाप्र०) अर्थात् जब अहिंसा धर्म निश्चय हो जाता है तब उस

पुरुष के मन से वैरभाव छूट जाता है, किन्तु उस के सामने वा उस के सङ्ग से अन्य पुरुष का भी वैरभाव छूट जाता है ॥ २७ ॥ (सत्यप्र०) तथा सत्याचरण का ठीक २ फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता, बोलता और करता है तब वह जो २ योग्य काम करता और करना चाहता है वे २ सब सफल हो जाते हैं ॥ २८ ॥ चोरीत्याग करने से यह बात होती है कि (अस्तेय०) अर्थात् जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी के छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है तब उसको सब उत्तम २ पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगते हैं। और चोरी इसका नाम है कि मालिक की आज्ञा के विना अधर्म से उसकी चीज़ को कपट से वा छिपाकर ले लेना ॥ २९ ॥ (ब्रह्मचर्य०) ब्रह्मचर्य सेवन से यह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करे, उपस्थ इन्द्रिय का संयम रक्खे, वेदादि शास्त्रों को पढ़ता पढ़ाता रहे, विवाह के पीछे भी ऋतुगामी बना रहे और परस्त्रीगमन आदि व्यभिचार को मन कर्म वचन से त्याग देवे। तब दो प्रकार का वीर्य अर्थात् बल बढ़ता है। एक शरीर का दूसरा बुद्धि का। उस के बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है ॥ ३० ॥ (अपरिग्रहस्थै०) अपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयासक्ति से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब मैं कौन हूं, कहां से आया हूं और मुझ को क्या करना चाहिये अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा इत्यादि शुभ गुणों का विचार उसके मन में स्थिर होता है। ये ही पांच यम कहाते हैं। इन का ग्रहण करना उपासकों को अवश्य चाहिये ॥ ३१ ॥ परन्तु यमों का नियम सहकारी कारण है, जो कि उपासना का दूसरा अंग कहाता है और जिसका साधन करने से उपासक लोगों का अत्यन्त सहाय होता है। सो भी पांच प्रकार का है। उन में से प्रथम शौच का फल लिखा जाता है (शौचात्स्वां०) पूर्वोक्त दो प्रकार के शौच करने से भी जब अपना शरीर और उस के सब अवयव बाहर भीतर से मलीन ही रहते हैं, तब औरों के शरीर की भी परीक्षा होती है कि सब के शरीर मल आदि से भरे हुए हैं। इस ज्ञान से वह योगी दूसरे से अपना शरीर मिलाने में घृणा अर्थात् संकोच कर के सदा अलग रहता है ॥ ३२ ॥ और उसका फल यह है कि (किञ्च०) अर्थात् शौच से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है। तदनन्तर ॥ ३३ ॥ (संतोषाद०)

अर्थात् पूर्वोक्त संतोष से जो सुख मिलता है वह सब से उत्तम है और उसी को मोक्षसुख कहते हैं ॥ ३४ ॥ (कायेन्द्रिय०) अर्थात् पूर्वोक्त तप से उन के शरीर और इन्द्रियां अशुद्धि के क्षय से दृढ़ होके सदा रोगरहित रहती हैं । तथा ॥ ३५ ॥ (स्वाध्याय०) पूर्वोक्त स्वाध्याय से इष्ट देवता अर्थात् परमात्मा के साथ सम्प्रयोग अर्थात् साक्षा होता है । फिर परमेश्वर के अनुग्रह का सहाय, अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है । तथा ॥ ३६ ॥ (समाधि०) पूर्वोक्त प्रणिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है । तथा ॥ ३७ ॥

तत्र स्थिरसुखमासनम् ॥ ३८ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ४६ ॥ भा० तद्यथा पद्मासनं, वीरासनं, भद्रासनं, स्वस्तिकं, दण्डासनं, सोपाश्रयं, पर्य्यङ्कं, क्रौञ्चनिषदनं, हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं, समसंस्थानं, स्थिरसुखं, यथासुखं चेत्येवमादीनि ॥ ३८ ॥ पद्मासनादिकमासनं विदध्यात्, यद्वा यादृशीच्छा तादृशमासनं कुर्य्यात् ॥ ३८ ॥ ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ३६ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ४८ ॥ भा० शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते ॥ ३६ ॥ तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४० ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ४६ ॥ भा० सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः कोष्ठ्यस्य वायोर्निस्सारणं प्रश्वासस्तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ॥ ४० ॥ आसने सम्यक् सिद्धे कृते बाह्याभ्यन्तरगमनशीलस्य वायोर्युक्त्या शनैः शनैरभ्यासेन जयकरणमर्थात् स्थिरीकृत्य गत्यभावकरणं प्राणायामः ॥ ४० ॥ स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ४१ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५० ॥ भा० यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः, यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः, तृतीयस्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति, यथा तप्तन्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद्गत्यभाव इति ॥ ४१ ॥ बालबुद्धिभिरङ्गुल्यङ्गुष्ठाभ्यां नासिकाछिद्रमवरुध्य यः प्राणायामः क्रियते स खलु शिष्टैस्त्याज्य एवास्ति । किन्त्वत्र बाह्याभ्यन्तराङ्गेषु शान्तिशैथिल्ये सम्पाद्य, सर्वाङ्गेषु यथावत् स्थितेषु सत्सु, बाह्यदेशं गतं प्राणं तत्रैव यथाशक्ति संरुध्य प्रथमो बाह्याख्यः प्राणायामः कर्त्तव्यः, तथोपासकैर्यो बाह्याद्देशादन्तः प्रविशति तस्यायभ्यन्तर एव यथाशक्ति निरोधः क्रियते, स आभ्यन्तरो द्वितीयः सेवनीयः । एवं बाह्याभ्यन्तराभ्या-

मनुष्ठिताभ्यां द्वाभ्यां कदाचिदुभयोर्युगपत्संरोधो यः क्रियते स स्तम्भवृत्तिस्तृतीयः प्राणायामोऽभ्यसनीयः ॥ ४० ॥ बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ४१ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५१ ॥ भा० देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः तथाभ्यन्तरविषयः परिदृष्ट आक्षिप्त उभयथा दीर्घसूक्ष्मः तत्पूर्वको भूमिजयात् क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणामस्तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मश्चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात् क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेष इति यः प्राणायाम उभयाक्षेपी स चतुर्थो गद्यते । तद्यथा यदोदराद् बाह्यदेशं प्रतिगन्तुं प्रथमक्षणे प्रवर्त्तते तं सलक्ष्यं पुनः बाह्यदेशं प्रत्येव प्राणाः प्रक्षेप्तव्याः पुनश्च यदा बाह्यादेशादाभ्यन्तरं प्रथममागच्छेत्तमाभ्यन्तर एव पुनः पुनः यथाशक्ति गृहीत्वा तत्रैव स्तम्भयेत्स द्वितीयः । एवं द्वयोरेतयोः क्रमेणाभ्यासेन गत्यभावः क्रियते स चतुर्थः प्राणायामः । यस्तु खलु तृतीयोस्ति स नैव बाह्याभ्यन्तराभ्यासस्यापेक्षां करोति किन्तु यत्र यत्र देशे प्राणो वर्त्तते तत्र तत्रैव सकृत्स्तम्भनीयः । यथा किमप्यद्भुतं दृष्ट्वा मनुष्यश्चकितो भवति तथैव कार्य्यमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

भाषार्थ

(तत्र स्थिर०) अर्थात् जिस में सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो उसको आसन कहते हैं । अथवा जैसी रुचि हो वैसा आसन करे ॥ ३८ ॥ (ततो द्वन्द्वा०) जब आसन दृढ़ होता है तब उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता है और न सर्दी गर्मी अधिक बाधा करती है ॥ ३६ ॥ (तस्मिन्सति०) जो वायु बाहर से भीतर को आता है उस को श्वास और जो भीतर से बाहर जाता है उस को प्रश्वास कहते हैं । उन दोनों के जाने आने को विचार से रोके । नासिका को हाथ से कभी न पकड़े । किन्तु ज्ञान से ही उस के रोकने को प्राणायाम कहते हैं और यह प्राणायाम चार प्रकार से होता है ॥ ४० ॥ (स तु बाह्य) अर्थात् एक बाह्य विषय, दूसरा आभ्यन्तर विषय, तीसरा स्तम्भवृत्ति और चौथा जो बाहर भीतर रोकने से होता है ॥ ४१ ॥ अर्थात् जो कि (बाह्याभ्यं०) इस सूत्र का विषय । वे चार प्राणायाम इस प्रकार के होते हैं कि जब भीतर से बाहर को श्वास निकले तब उस को बाहर ही रोक दे, इस को प्रथम प्राणायाम कहते हैं । जब

बाहर से श्वास भीतर को आवे तब उस को जितना रोक सके उतना भीतर ही रोक दे, इस को दूसरा प्राणायाम कहते हैं। तीसरा स्तम्भवृत्ति है कि न प्राण को बाहर निकाले और न बाहर से भीतर लेजाय, किन्तु जितनी देर सुख से हो सके उस को जहां का तहां ज्यों का त्यों एक दम रोक दे। और चौथा यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे तब बाहर ही कुछ २ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर जावे तब उस को भीतर ही थोड़ा २ रोकता रहे, इस को बाह्याभ्यन्तराक्षेपी कहते हैं। और इन चारों का अनुष्ठान इसलिये है कि जिससे चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे ॥ ४२ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ४२ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५२ ॥ एवं प्राणायामाभ्यासाद्यत्परमेश्वरस्यान्तर्यामिनः प्रकाशसत्यविवेकस्यावरणाख्यमज्ञानमस्ति तत्क्षीयते क्षयं प्राप्नोतीति ॥ ४२ ॥ किंच धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ४३ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५३ ॥ भा० प्राणायामाभ्यासादेव प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्येति वचनात् ॥ ४३ ॥ प्राणायामानुष्ठानेनोपासकानां मनसो ब्रह्मध्याने सम्यग्योग्या भवति ॥ ४३ ॥ अथ कः प्रत्याहारः ? । स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ४४ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५४ ॥ यदा चित्तं जितं भवति परमेश्वरस्मरणालम्बनाद्विषयान्तरे नैव गच्छति तादिन्द्रियाणां प्रत्याहारोऽर्थान्निरोधो भवति। कस्य केषामिव ? यथा चित्तं परमेश्वरस्वरूपस्थं भवति। तथैवेन्द्रियाण्यप्यर्थाच्चित्ते जिते सर्वमिन्द्रियादिकं जितं भवतीति विज्ञेयम् ॥ ४४ ॥ ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ४५ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ५५ ॥ ततस्तदनन्तरं स्वस्वविषयासंप्रयोगेऽर्थात्स्वस्वविषयान्निवृत्तौ सत्यामिन्द्रियाणां परमा वश्यता यथावद्विजयो जायते। स उपासको यदा यदेश्वरोपासनं कर्त्तुं प्रवर्त्तते तदा तदैव चित्तस्येन्द्रियाणां च वश्यत्वं कर्तुं शक्नोतीति ॥ ४५ ॥ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ ४६ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० १ ॥ भा० नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि, ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति बन्धो धारणा ॥ ४६ ॥ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ ४७ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० २ ॥ तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्यान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ॥ ४७ ॥ तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव

समाधिः ॥ ४८ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० ३ ॥ ध्यानसमाध्योरयं भेदः, ध्याने मनसो ध्यातृध्यानध्येयाकारेण विद्यमाना वृत्तिर्भवति, समाधौ तु परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च मग्नः स्वरूपशून्य इव भवतीति ॥ ४८ ॥ त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४६ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० ४ ॥ भा० तदेतद् धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः । एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते । तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति ॥ ४६ ॥ संयमश्चोपासनाया नवमांगम् ।

भाषार्थ

इस प्रकार प्राणायामपूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का ढांकने वाला आवरण जो अज्ञान है वह नित्यप्रति नष्ट होता जाता है और ज्ञान का प्रकाश धीरे २ बढ़ता जाता है । उस अभ्यास से यह भी फल होता है कि ॥ ४३ ॥ (किञ्च धारणा०) परमेश्वर के बीच में मन और आत्मा की धारणा होने से मोक्षपर्यन्त उपासनायोग और ज्ञान की योग्यता बढ़ती जाती है । तथा उससे व्यवहार और परमार्थ का विवेक भी बराबर बढ़ता रहता है। इसी प्रकार प्राणायाम करने से भी जान लेना ॥ ४४ ॥ (स्वविषया०) प्रत्याहार उस का नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है, क्योंकि मन ही इन्द्रियों का चलाने वाला है ॥ ४५ ॥ (ततः पर०) तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय होके जहां अपने मन को ठहराना वा चलाना चाहे उसी में ठहरा और चला सकता है । फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है, असत्य में कभी नहीं ॥ ४६ ॥ (देशबं०) जब उपासना योग के पूर्वोक्त पांचों अङ्ग सिद्ध हो जाते हैं तब उसका छठा अङ्ग धारणा भी यथावत् प्राप्त होती है । (धारणा) उसको कहते हैं कि मन को चञ्चलता से छुड़ा के नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर करके ओंकार का जप और उस का अर्थ जो परमेश्वर है उस का विचार करना । तथा ॥ ४७ ॥ (तत्र प्र०) धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है उस के प्रकाश और आनन्द में अत्यन्त विचार और प्रेम भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है । उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना, इसी का नाम ध्यान है । इन सात

अङ्गों का फल समाधि है ॥ ४८ ॥ (तदेवार्थ०) जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके, अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जान के, आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं । ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करने वाला जिस मन से जिस चीज़ का ध्यान करता है वे तीनों विद्यमान रहते हैं । परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्दस्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है, वहां तीनों का भेदभाव नहीं रहता । जैसे मनुष्य जल में डुबकी मारके थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न हो के फिर बाहर को आ जाता है ॥ ४९ ॥ (त्रयमेकत्र०) जिस देश में धारणा की जाय उसी में ध्यान और उसी में समाधि अर्थात् ध्यान करने के योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को संयम कहते हैं । जो एक ही काल में तीनों का मेल होना है, अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है उन में बहुत सूक्ष्म कालका भेद रहता है । परन्तु जब समाधि होती है तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही होजाता है ॥ ५० ॥

अथोपासनाविषये उपनिषदां प्रमाणानि

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ कठोपनि० अ० १ । वल्ली० २ । मं० २४ ॥ तपःश्रद्धे ये ह्युपसन्त्यरण्य शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्य्यां चरन्तः । सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ २ ॥ मुण्ड० १ । खं० २ । मं० ११ ॥ अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ ३ ॥ तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ ४ ॥ स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्य्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति ॥ ५ ॥ तं चेद् ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वꣳसमाहितꣳसर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैनज्जरावाप्नोति प्रध्वꣳसते वा किं

सतोऽतिशिष्यत इति ॥ ६ ॥ स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्य्यति न बधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पो यथाह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ७ ॥ छान्दोग्योपनि० प्रपा० ८ । खं० १ । मं० १ । २ । ३ । ४ । ५ ॥ अस्य सर्वस्य भाषायामभिप्रायः प्रकाशयिष्यते । सेयं तस्य परमेश्वरस्योपासना द्विविधास्ति । एका सगुणा द्वितीया निर्गुणा चेति । तद्यथा । (स पर्य्यगाच्छुक्र०) इत्यस्मिन् मन्त्रे शुक्रशुद्धमिति सगुणोपासनम् । अकायमव्रणमस्नाविरमित्यादि निर्गुणोपासनं च। तथा एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । सर्वाध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥१॥

भाष्यम्

यह उपासनायोग दुष्ट मनुष्य को सिद्ध नहीं होता । क्योंकि (नाविरतो०) जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग होकर अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता, तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक कितना ही पढ़े वा सुने उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥ १ ॥ (तपःश्रद्धे०) जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उस की आज्ञा में अत्यन्त प्रेम कर के अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदयरूपी बन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं । जो लोग अधर्म के छोड़ने और धर्म के करने में दृढ़, तथा वेदादि सत्य विद्याओं में विद्वान् हैं, जो भिक्षाचर्य्य आदि कर्म करके संन्यास वा किसी अन्य आश्रम में हैं, इस प्रकार के गुणवाले मनुष्य (सूर्य्यद्वारेण०) प्राणद्वार से परमेश्वर के सत्य राज्य में प्रवेश करके, (विरजाः) अर्थात् सब दोषों से छूट के, परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होते हैं, जहां कि पूर्ण पुरुष, सब में भरपूर, सब से सूक्ष्म, (अमृतः) अर्थात् अविनाशी और जिस में हानि लाभ कभी नहीं होता ऐसे परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं । जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उस में प्रवेश किया चाहें उस समय इस रीति से करें कि ॥ २ ॥ (अथ यदिद०) कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है, जिस को ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उस के बीच में जो गर्त है उस में कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है, और उस

के बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है ॥ ३ ॥ और कदाचित् कोई पूछे कि (तं चेद् ब्रूयु०) अर्थात् उस हृदयाकाश में क्या रक्खा है जिसकी खोजना की जाय ? तो उसका उत्तर यह है कि ॥ ४ ॥ (स ब्रूयाद्या०) हृदय देश में जितना आकाश है वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर ही से भररहा है और उसी हृदयाकाश के बीच में सूर्य्य आदि प्रकाश तथा पृथिवीलोक, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, बिजुली और सब नक्षत्र लोक भी ठहर रहे हैं। जितने दीखने वाले और नहीं दीखने वाले पदार्थ हैं वे सब उसी की सत्ता के बीच में स्थिर हो रहे हैं ॥ ५ ॥ (तं चेद् ब्रूयु०) इसमें कोई ऐसी शङ्का करे कि जिस ब्रह्मपुर हृदयाकाश में सब भूत और काम स्थिर होते हैं उस हृदयदेश के वृद्धावस्था के उपरान्त नाश हो जाने पर उस के बीच में क्या बाक़ी रह जाता है कि जिस को तुम खोजने को कहते हो ? तो इसका उत्तर यह है ॥ ६ ॥ (स ब्रूयात्) सुनो भाई ! उस ब्रह्मपुर में जो परिपूर्ण परमेश्वर है उस को न तो कभी वृद्धावस्था होती है और न कभी नाश होता है। उसी का नाम सत्य ब्रह्मपुर है कि जिस में सब काम परिपूर्ण होजाते हैं। वह (अपहतपाप्मा०) अर्थात् सब पापों से रहित शुद्धस्वभाव, (विजरः) जरा अवस्थारहित, (विशोकः) शोकरहित, (विजिघत्सोऽपि०) जो खाने पीने की इच्छा कभी नहीं करता, (सत्यकामः) जिस के सब काम सत्य हैं, (सत्यसंकल्पः) जिस के सब संकल्प भी सत्य हैं, उसी आकाश में प्रलय होने के समय सब प्रजा प्रवेश कर जाती है और उसी के रचने से उत्पत्ति के समय फिर प्रकाशित होती है। इस पूर्वोक्त उपासना से उपासक लोग जिस २ काम की, जिस २ देश की, जिस २ क्षेत्रभाग अर्थात् अवकाश की इच्छा करते हैं उन सब को वे यथावत् प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥ सो उपासना दो प्रकार की है। एक सगुण और दूसरी निर्गुण। उनमें से (स पर्य्यगा०) इस मन्त्र के अर्थानुसार शुक्र अर्थात् जगत् का रचने वाला वीर्यवान् तथा शुद्ध, कवि, मनीषी, परिभू और स्वयंभू इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण है और अकाय, अव्रण, अस्नाविर० इत्यादि गुणों के निषेध होने से वह निर्गुण कहाता है। तथाः—

एको देव इत्यादिसगुणोपासनम्, निर्गुणश्चेति वचनान्निर्गुणोपासनम्। तथा सर्वज्ञादिगुणैः सह वर्त्तमानः सगुणः, अविद्यादिक्लेशपरिमाणच्छित्वादिसंख्याशब्द-

स्पर्शरूपरसगन्धादिगुणेभ्यो निर्गतत्वान्निर्गुणः । तद्यथा । परमेश्वरः सर्वज्ञः, सर्वव्यापी, सर्वाध्यक्षः, सर्वस्वामी चेत्यादिगुणैः सह वर्त्तमानत्वात् परमेश्वरस्य सगुणोपासनं विज्ञेयम्, तथा सोऽजोऽर्थाज्जन्मरहितः, (अव्रणः) छेदरहितः, निराकारः आकाररहितः, अकायः शरीरसम्बन्धरहितः, तथैव रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणादयो गुणास्तस्मिन्न सन्तीदमेव तस्य निर्गुणोपासनं ज्ञातव्यम् । अतो देहधारणेनेश्वरः सगुणो भवति देहत्यागेन निर्गुणश्चेति या मूढानां कल्पनास्ति सा वेदादिशास्त्रप्रमाणविरुद्धा विद्वदनुभवविरुद्धा चास्ति । तस्मात्सज्जनैर्व्यर्थेयं रीतिः सदा त्याज्येति शिवम् ।

भाषार्थ

(एको देवः०) एक देव इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण और (निर्गुणश्च०) इस के कहने से निर्गुण समझा जाता है । तथा ईश्वर के सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, सनातन, न्यायकारी, दयालु, सब में व्यापक, सब का आधार, मङ्गलमय, सब की उत्पत्ति करने वाला और सब का स्वामी इत्यादि सत्यगुणों के ज्ञानपूर्वक उपासना करने को सगुणोपासना कहते हैं । और वह परमेश्वर कभी जन्म नहीं लेता, निराकार अर्थात् आकारवाला कभी नहीं होता, अकाय अर्थात् शरीर कभी नहीं धारता, अव्रण अर्थात् जिसमें छिद्र कभी नहीं होता, जो शब्द स्पर्श रूप रस और गन्धवाला कभी नहीं होता, जिसमें दो तीन आदि संख्या की गणना नहीं बन सकती, जो लम्बा चौड़ा और हलका भारी कभी नहीं होता इत्यादि गुणों के निवारणपूर्वक उसका स्मरण करने को निर्गुण उपासना कहते हैं । इससे क्या सिद्ध हुआ कि जो अज्ञानी मनुष्य ईश्वर के देहधारण करने से सगुण और देहत्याग करने से निर्गुण उपासना कहते हैं, सो यह उन की कल्पना सब वेद शास्त्रों के प्रमाणों और विद्वानों के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण सज्जन लोगों को कभी न मानना चाहिये । किन्तु सब को पूर्वोक्त रीति से ही उपासना करनी चाहिये ।

इति संक्षेपतो ब्रह्मोपासनाविधानम्

अथ मुक्तिविषयः संक्षेपतः

एवं परमेश्वरोपासनेनाविद्याऽधर्माचरणनिवारणाच्छुद्धविज्ञानधर्मानुष्ठानोन्नतिभ्यां जीवो मुक्तिं प्राप्नोतीति । अथात्र योगशास्त्रस्य प्रमाणानि तद्यथा । अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः ॥ १ ॥ अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ २ ॥ अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ३ ॥ दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ४ ॥ सुखानुशयी रागः ॥ ५ ॥ दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ६ ॥ स्वरसवाही विदुषोपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ७ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ३—६ ॥ तदभावात्संयोगाभावो हानन्तद्दृशे कैवल्यम् ॥ अ० १ । पा० २ । सू० २५ ॥ तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥६॥ अ० १ । पा० ३ । सू० ५० ॥ सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ १ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० ५५ ॥ तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ ११ ॥ अ० १ । पा० ४ । सू० २६ ॥ पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ १२ ॥ अ० १ । पा० ४ । सू० ३४ ॥ अथ न्यायशास्त्रप्रमाणानि ॥ दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ १ ॥ बाधनालक्षणं दुःखमिति ॥ २ ॥ तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ ३ ॥ न्यायद० अ० १ । आह्निक १ । सू० २ । २१ । २२ ॥

भाषार्थ

इसी प्रकार परमेश्वर की उपासना करके, अविद्या आदि क्लेश तथा अधर्म्माचरण आदि दुष्ट गुणों का निवारण करके, शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके, जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है । अब इस विषय में प्रथम योगशास्त्र का प्रमाण लिखते हैं । पूर्व लिखी हुई चित्त की पांच वृत्तियों को यथावत् रोकने और मोक्ष के साधन में सब दिन प्रवृत्त रहने से नीचे लिखे हुए पांच क्लेश नष्ट हो जाते हैं । वे क्लेश ये हैं । (अविद्या०) एक (अविद्या), दूसरा (अस्मिता), तीसरा (राग), चौथा (द्वेष) और पांचवां (अभिनिवेश) ॥ १ ॥ (अविद्याक्षेत्र०) उन में से अस्मितादि चार क्लेशों और मिथ्याभाषणादि दोषों की माता अविद्या है । जो कि मूढ़ जीवों को अन्धकार में फसा के जन्ममरणादि दुःखसागर में सदा डुबाती है । परन्तु जब विद्वान् और

धर्मात्मा उपासकों की सत्यविद्या से अविद्या (विच्छिन्न) अर्थात् छिन्नभिन्न होके (प्रसुप्ततनु) नष्ट हो जाती है तब वे जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं ॥ २ ॥ अविद्या के लक्षण ये हैं (अनित्या०) । (अनित्य) अर्थात् कार्य्य (जो शरीर आदि स्थूल पदार्थ तथा लोक लोकान्तर में नित्यबुद्धि), तथा जो (नित्य) अर्थात् ईश्वर, जीव, जगत् का कारण, क्रिया क्रियावान्, गुण गुणी और धर्म धर्मी हैं इन नित्य पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध है इन में अनित्यबुद्धि का होना यह अविद्या का प्रथम भाग है । तथा (अशुचि) मल मूत्र आदि के समुदाय दुर्गन्धरूप मल से परिपूर्ण शरीर में पवित्रबुद्धि का करना, तथा तलाव, बावड़ी, कुण्ड, कूंआ और नदी आदि में तीर्थ और पाप छुड़ाने की बुद्धि करना और उन का चरणामृत पीना, एकादशी आदि मिथ्या व्रतों में भूख प्यास आदि दुःखों का सहना, स्पर्श इन्द्रिय के भोग में अत्यन्त प्रीति करना इत्यादि अशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना और सत्यविद्या, सत्यभाषण, धर्म, सत्संग, परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता, सर्वोपकार करना, सब से प्रेमभाव से वर्त्तना आदि शुद्धव्यवहार और पदार्थों में अपवित्रबुद्धि करना यह अविद्या का दूसरा भाग है । तथा दुःख में सुखबुद्धि अर्थात् विषयतृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, ईर्षा, द्वेष आदि दुःखरूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना, जितेन्द्रियता, निष्काम, शम, संतोष, विवेक, प्रसन्नता, प्रेम, मित्रता आदि सुखरूप व्यवहारों में दुःखबुद्धि का करना यह अविद्या का तीसरा भाग है । इसी प्रकार अनात्मा में आत्मबुद्धि अर्थात् जड़ में चेतनभाव और चेतन में जड़भावना करना अविद्या का चतुर्थ भाग है । यह चार प्रकार की अविद्या संसार के अज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु होके उनको सदा नचाती रहती है । परन्तु विद्या अर्थात् पूर्वोक्त अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में अनित्य, अपवित्रता, दुःख और अनात्मबुद्धि का होना तथा नित्य, शुचि, सुख और आत्मा में नित्य, पवित्रता, सुख और आत्मबुद्धि करना यह चार प्रकार की विद्या है । जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है तब बन्धन से छूट के जीव मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥ (अस्मिता०) दूसरा क्लेश अस्मिता कहाता है । अर्थात् जीव और बुद्धि को मिले के समान देखना, अभिमान और अहङ्कार से अपने को बड़ा समझना । इत्यादि व्यवहार को अस्मिता जानना । जब सम्यक् विज्ञान से अभिमान आदि के नाश होने से इस की निवृत्ति हो जाती है तब गुणों के ग्रहण में रुचि होती है ॥ ४ ॥ तीसरा (सुखानु०) राग अर्थात् जो २ सुख संसार में साक्षात् भोगने में आते

हैं उनके संस्कार की स्मृति से जो तृष्णा के लोभसागर में बहना है इसका नाम राग है। जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि सब संयोग, वियोग, संयोग-वियोगान्त हैं, अर्थात् वियोग के अन्त में संयोग और संयोग के अन्त में वियोग तथा वृद्धि के अन्त में क्षय और क्षय के अन्त में वृद्धि होती है तब इसकी निवृत्ति हो जाती है ॥ ५ ॥ (दुःखानु०) चौथा द्वेष कहाता है। अर्थात् जिस अर्थ का पूर्व अनुभव किया गया हो उस पर और उसके साधनों पर सदा क्रोधबुद्धि होना। इसकी निवृत्ति भी राग की निवृत्ति से ही होती है ॥ ६ ॥ (स्वरसवा०) पांचवां (अभिनिवेश) क्लेश है। जो सब प्राणियों को नित्य आशा होती है कि हम सदैव शरीर के साथ बने रहें, अर्थात् कभी मरें नहीं, सो पूर्वजन्म के अनुभव से होती है। और इससे पूर्वजन्म भी सिद्ध होता है। क्योंकि छोटे २ कृमि चींटी आदि को भी मरण का भय बराबर बना रहता है। इसी से इस क्लेश को अभिनिवेश कहते हैं। जो कि विद्वान् मूर्ख तथा क्षुद्रजन्तुओं में भी बराबर दीख पड़ता है। इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होगी कि जब जीव, परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य और कार्यद्रव्य के संयोग वियोग को अनित्य जान लेगा। इन क्लेशों की शान्ति से जीवों को मोक्षसुख की प्राप्ति होती है ॥७॥ (तदभावात्०) अर्थात् जब अविद्यादि क्लेश दूर होके विद्यादि शुभ गुण प्राप्त होते हैं तब जीव सब बन्धनों और दुःखों से छूट के मुक्ति को प्राप्त होजाता है ॥ ८ ॥ (तद्वैराग्या०) अर्थात् शोकरहित आदि सिद्धि से भी विरक्त होके सब क्लेशों और दोषों का बीज जो अविद्या है उसके नाश करने के लिये यथावत् प्रयत्न करे, क्योंकि उसके नाश के विना मोक्ष कभी नहीं हो सकता ॥ ९ ॥ तथा (सत्त्व-पुरुष) अर्थात् सत्त्व जो बुद्धि पुरुष जो जीव इन दोनों की शुद्धि से मुक्ति होती है अन्यथा नहीं ॥ १० ॥ (तदा विवेक०) जब सब दोषों से अलग होके ज्ञान की ओर आत्मा झुकता है तब कैवल्यमोक्षधर्म के संस्कार से चित्त परिपूर्ण होजाता है, तभी जीव को मोक्ष प्राप्त होता है, क्योंकि जब तक बन्धन के कामों में जीव फसता जाता है तब तक उस को मुक्ति प्राप्त होना असम्भव है ॥ ११ ॥ कैवल्यमोक्ष का लक्षण यह है कि (पुरुषार्थ) अर्थात् कारण के सत्त्व, रजो और तमोगुण और उन के सब कार्य्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर, आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् हो के, स्वरूपप्रतिष्ठा जैसा जीव का तत्त्व है वैसा ही स्वाभाविकशक्ति और गुणों से युक्त हो के, शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप विज्ञान प्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है उसी को